





दसणमूलो धर्मो  
तहा  
संसारमूल हेदु मित्छतं

समीक्षक -  
उपाध्याय कनकनंदी

समीक्षक—उपाध्याय श्री कनक नंदी जी गुरुदेव

सहयोगी—मुनि श्री विद्या नंदी, मुनि श्री गुप्ति नंदी, आर्थिका राज श्री, आर्थिका क्षमा श्री

संपादक मंडल—श्री प्रभात कुमार जैन (एम. एस-सी. रसायन प्रवक्ता )

मुजफ्फरनगर। श्री रघुवीर सिंह जैन (एम. एस. सी. एल. एल. बी.) मुजफ्फरनगर। श्री सुशीलचन्द जैन (एम. एस. सी. भौतिकी) बड़ौत।

प्रकाशन संयोजक—श्री नेमी चन्द काला, जयपुर

ज्ञानादानी—स्व. श्रीमती अंगूरी देवी जैन धर्मपत्नी स्व. घसीटामल जैन, श्रीमती अंगूरी देवी जैन धर्मपत्नी स्व. रिखबदास जैन, सुपुत्र गुणपाल जैन, धर्मपत्नी मधु जैन एवं सुपुत्र नितिन जैन, सचिन जैन एवं सुपुत्री पूजा जैन के सद्भावना एवं धर्म संस्कार के फलस्वरूप।

लेखन कार्य में सहायक मेरे धार्मिक शिष्यगण—

(1) कु. नीलू जैन (2) कु. अन्तिमबाला जैन (3) कु. राजमति जैन (4) कु. इन्द्रा जैन (5) कु. ललिता जैन (6) धर्मचन्द जैन (7) शीतल जैन (8) कु. कवित जैन (9) कु. सन्जु जैन (10) कु. सम्पदा जैन (11) कु. सोमा जैन।

सर्वाधिकार-सुरक्षित लेखकाधीन

प्रथम संस्करण - 1993

मूल्य :—स्वाध्याय, चिन्तन समीक्षा व ध्यान (रु. 15.00)

प्रतियाँ :—1101

प्रकाशन एवं प्राप्ति स्थान- 1. धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, बड़ौत (U.P.),

2. नव अल्पना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना जयपुर-3 (राजस्थान)

प्रकाशन तिथि—2 दिसम्बर, 1993

मुद्रणकार्य :—नव अल्पना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर- 3 द्वारा।

### विषय - सूची

	पृष्ठ संख्या
1. संदर्भित प्रथ्य सूची	4
2. लेखक की जिज्ञासा	8
3. आशा पठनीय	12
4. अध्याय—1. संसार का मूल हेतु मिथ्यात्व है	32
5. " 2. मोह के स्वरूप एवं भेद	72
6. " 3. मिथ्यात्व से बंधने योग्य प्रकृतियाँ	85
7. " 4. विभाव परिणाम से युक्त आत्मा ही बंध है	100
8. " 5. मोहादि भाव से प्राणी कर्म बांधता है	112
9. " 6. भाव बंध का स्वरूप	121
10. " 7. भाव बंध के विभिन्न भेद	129
11. " 8. कर्म—बंध कारक मोह, राग, द्वेष का क्षय करो।	136

## संदर्भित ग्रन्थ-सूची

- 1- समयसार—आचार्य विद्यासागर के शिक्षा—दीक्षा गुरु आचार्य श्री ज्ञान सागर जी द्वारा अनुदित ।
- 2- आध्यात्म अमृत कलश—टीकाकार व प्रवचनकार पं. जगमोहनलाल शास्त्री (कटनी—म.प्र.)  
(प्रस्तोता—कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया )
- 3- प्रवचनसार—स्व. पं. अजितकुमार शास्त्री तथा स्व. पं. रत्नचन्द्र मुख्यार द्वारा अनुदित ।
- 4- पंचास्ति काय—श्री लालजी न्यायतीर्थ द्वारा अनुदित ।
- 5- षट्खण्डागम—ध्वलाटीका सहित ।
- 6- कसाय पाहुड—जय ध्वला टीका सहित ।
- 7- राजवार्तिक—आर्थिका श्री सुपार्श्वमतीजी अनुदित ।
- 8- गोमट्टसार—जीवकाण्ड = केशव वर्णिकृत कर्णाटक वृत्ति सहित ।
- 9- गोमट्टसार-कर्मकाण्ड = केशव वर्णिकृत कर्णाटक वृत्ति सहित ।
- 10- तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार = पं. माणिकचंद जी कौदेय द्वारा अनुदित ।
- 11- पंचाध्यायी—पं. मक्खन लाल आदि द्वारा अनुदित ।
- 12- ज्ञानार्णव—आचार्य शुभचन्द्रजी ।
- 13- अष्टपाहुड—पं. पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा अनुदित ।
- 14- मूलाचार—आर्थिका ज्ञानमती जी अनुदित ।
- 15- आत्मानुशास—आचार्य गुणभद्राचार्य ।
- 16- इष्टोपदेश—आचार्य पूज्यपादजी ।
- 17- समाधितंत्र—आचार्य पूज्यपादजी ।
- 18- भगवती अराधना—आचार्य शिवार्यजी ।
- 19- तत्वार्थ सार—पं. पन्नालाल अनुदित ।
- 20- कार्तिकेयानुप्रेक्षा—आचार्य स्वामी कार्तिकेय ।
- 21- वृहत् द्रव्य संग्रह—आचार्य नेमिचन्द्रजी ।
- 22- रलकरण्डक श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र स्वामी ।
- 23- पुरुषार्थ सिद्धि उपाय—आचार्य अमृतचन्द्रजी ।
- 24- प्रमेयरत्नमाला—आचार्य लघुअनन्तवीर्य ।
- 25- न्याय दिपीका—श्री अभिनव धर्मभूषण यति विरचित
- 26- नयचक्र—आचार्य माइल्ल ध्वल ।
- 27- नियमसार—आचार्य कुन्दकुन्द
- 28- भावसंग्रह—आचार्य देवसेन ।
- 29- धम्पपद—महात्माबुद्ध
- 30- न्याय दर्शन—महर्षि गौतम ।
- 31- कल्याणालोचना—जैनाचार्य
- 32- परमात्म प्रकाश—आचार्य योगिन्द्र देव ।
- 33- बारस अणुपेक्खा—आचार्य कुन्दकुन्द ।
- 34- सर्वार्थसिद्धि—आचार्य पूज्यपाद ।
- 35- पातञ्जल योगदर्शन—आचार्य पतञ्जलि
- 36- सन्मतिसूत्र—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर



## समीक्षक के विचारामृत

(1) दर्शन, ज्ञान, चारित्र मिथ्यात्व के उदय से 'कु' (मिथ्या) बनते हैं और स्त्व के कारण 'सु' (सम्यक्) बनते हैं, न कि ज्ञानावरणादि कर्म से ।

(2) चक्रवर्ती की दिग्बिजय में सेनापति रत्न की महत्वपूर्ण भूमिका रहते थे विजय श्री चक्रवर्ती के कारण मिलती है उसी प्रकार कषाय (क्रोधादि) की ज्ञान संसार के लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व कि कषाय ।

(3) 'मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र' को स्थूलरूप से 123 मानने पर दर्शन 1 है, मिथ्याज्ञान 2 है, मिथ्याचारित्र 3 है । '2', '3' संख्या की दृष्टि डे होते हुये भी स्थानमान के कारण '1' ही बड़ा है क्योंकि 1 माने 100 है, ने 20 है, 3 माने 3 है । इसी ही प्रकार संसार के कारण में मिथ्यात्व का आमान 'शतक' '1' (100), मिथ्याज्ञान का स्थानमान 'दशक' '2' (20) तथा गचारित्र का स्थानमान 'एकक' '3' है ।

(4) वृक्ष का मूल भाग नहीं दिखाई देने पर भी जैसे-वृक्ष को जीने के मूल सबसे महत्वपूर्ण है वैसे ही संसार रूपी वृक्ष को अनंतकाल तक जीने लेए मिथ्यात्व रूपी मूल का महत्वपूर्ण स्थान है ।

(5) करणानुयोगापेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक्दृष्टि नारकी से अधिक मिथ्यादृष्टि देव है ।

(6) दर्शन विशुद्धि के बिना तीर्थकर प्रकृति को बांधने योग्य अवशेष भावनायें भी नहीं हो सकती हैं । सम्यग्दर्शन के बिना तीर्थकर प्रकृति का नहीं होता है ।

(7) सम्यक्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र तपादि से भी संवर निर्जरादि भी होती हैं ।

(8) महल की नींव नहीं दिखाई देने पर भी नींव के आधार से ही महल रहता है, वैसे ही संसार का महल मिथ्यात्व रूपी नींव पर स्थिर है ।

(9) बाह्य स्थूल भौतिक वस्तु में से मानलो प्राणवायु, जल, भोजन मनुष्य को जीवित रहने के लिए चाहिये । परन्तु तीनों में से वायु की आवश्यकता सर्वोपरि है । वैसे ही संसार को जीवित रहने के लिए मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र चाहिए परन्तु मिथ्यादर्शन रूपी प्राणवायु की आवश्यकता सर्वोपरि है ।

(10) शुक्ललेश्याधारी मिथ्यादृष्टि निग्रन्थ साधु से भी अधिक धार्मिक है युद्धरत सम्यग्दृष्टि सैनिक ।

(11) सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का मूल है तब मिथ्यात्व किसका मूल है ?

(12) यदि मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है तब 'दंसण भट्टा ण सिज्जन्ति' क्यों कहा गया है ?

(13) जैसे गति के लिए धर्म द्रव्य उदासीन कारण है क्या वैसे ही कर्मबंध में मिथ्यात्व उदासीन कारण है जिससे मिथ्यात्व को 'अकिञ्चित्कर' कहते हो ?

(14) परिग्रह में सबसे प्रधान एवं प्रथम परिग्रह मिथ्यात्व है । जब मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है तब यह परिग्रह भी अकिञ्चित्कर हो जायेगा ।

(15) "आस्त्र एवं बंध प्रकरण में मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर" कहने वालों की दृष्टि में अनेकान्तात्मक परिप्रेक्ष में 'मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर' है इसका शब्दार्थ, मतार्थ, भावार्थ, नयार्थ, विशेषार्थ, आगमार्थ, आध्यात्मिक अर्थ क्या हैं ?



## लेखक की जिज्ञासा

1. "मिथ्यात्व आस्त्र एवं बंध क्षेत्र में अकिञ्चित्कर है" ऐसा वर्णन प्राचीन दिग्म्बर जैनाचार्य कृत कौन से शास्त्र में उल्लेख है?
2. मिथ्यात्व बंध प्रकरण में करण (कारण, हेतु) नहीं है परन्तु अधिकरण (आधार) है ऐसा वर्णन दिग्म्बर जैन पूर्वाचार्य कृत कौन से शास्त्र में है?
3. मिथ्यात्व आस्त्र एवं बन्ध क्षेत्र में अकिञ्चित्कर है" इसका शब्दार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, नयार्थ, भावार्थादि आगम की दृष्टि में क्या है तथा आचार्य विद्यासागर श्री की दृष्टि से क्या है?
4. सबे पयडिङ्गिओ, अणुभागपदेसबन्धठाणि ।

जीवो मिच्छत्वसा, भमिदो पुण भावसंसारे ॥२९ ॥  
(आचार्य कुन्द कुन्द बारस अणुपेक्खा)

इसका अर्थ क्या है?

5. संसार मूल हेदुं मिच्छतं सव्वधा विवज्जेहि ।  
बुद्धी गुणणिदं पिहु मिच्छतं मोहिदं कुणदि ॥ (गा.७२३)  
(भगवतीं आराधना—आ.शिवार्य)

इस गाथा का क्या अर्थ है?

6. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध हेतवः ॥(१) (मोक्षशास्त्र) का क्या अर्थ?

7. सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंध । (२) पूर्व सूत्र में ५ कारण बताकर यहां एक (मोक्षशास्त्र में) कारण बताकर क्या आचार्य उमास्वामी ने स्व वचन बाधित दोष किया है? अर्थात् क्या इही दोनों सूत्रों में परस्पर विरोध है? नहीं तो किस प्रकार?

8. मिथ्यादर्शनादीनां बन्ध हेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् ॥ (तत्त्वार्थ वार्तिक—आ.अकलंक)

इस वार्तिक का क्या अर्थ है?

9. यमश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतदृढ़मोह कर्मणः ।  
नियतं स्वोदयाद्वन्ध प्रभृति न परोदयात् ॥ ९२३ (पंचाध्यायी) का क्या अर्थ है?

10. "बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वम्" पृ. 207

यशस्तिलक चम्पू काव्य-आचार्य सोमदेव

11. जीव-कम्माणं मिच्छत्तासंजमकसाय-जोगेहि एयत्त परिणामो बंधो (धवला-बंध सामित्तविचओ पृ. २२)

12. मैंने जो कुछ लिखा है उसमें यदि कुछ तृटि हो तो उसको जो सज्जन मुझे अवगत करायेगा उसका मैं उपकार मानूँगा एवं संशोधन के लिये योग्य विचार करूँगा ।

13. सोलस कम्माणि मिच्छत्त पच्चयाणि, मिच्छत्तोदएण विणा एदेसि बंधाभावादो पणुवीस कम्माणि अणंताणुबंधि पच्चयाणि, तदुदएण विणा तेसि बंधाणुवलंभादो । दस कम्माणि असंजमपच्चयाणि, अपच्चक्खाणावरणोदएण विणा तेसि बंधाभावादो पच्चक्खाणावरणं चतुर्कं सगसामण्णोदय पच्चयं, तैण विणा तब्बंधाणुवलंभादो । छङ्कम्माणि पमादपच्चयाणि, पमादेण विणि तेसि बंधाणुवलंभादो । धवला पृ. ८ पृ. ७६ ।

यदि मिथ्यात्व बंध में अकिञ्चित्कर है और मिथ्यात्व को आधार करके अनन्तानुबंधी कषाय ही बांधती है तब 16 प्रकृतियाँ 'मिच्छत्त पच्चयाणि' एवं 'मिच्छत्तोदएण विणा एदेसि बंधाभावादो' क्यों कहा गया? सासादन गुणस्थान में तो अनन्तानुबन्धी कषाय तक उदय में है, तब मिथ्यात्व से बन्धने वाली प्रकृतियाँ क्यों नहीं बन्धती हैं? कहा जाये कि अनन्तानुबन्धी तब विसंयोजित हैं (पं. जगमोहनलाल शास्त्री के मतानुसार) तब अप्रत्याख्यानादि अन्य कषायों से क्यों बन्ध नहीं होते हैं?

(14) मिच्छत्पच्च्यो खलु बंधो उपसामगस्स बोध्दवो ।

उवसने आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो ॥ (१०१) जयधवल पृ. ८ पृ. ३११

- 15) मिच्छतं पच्चओ कारणं जस्स सो मिच्छत पच्चओ खलु परिष्फुंडं बंधो दंसणमोहो सामगस्स जाव पढमट्टिद चरिम समयो ति ताव बोध्दव्वो । केसि कम्माणं बंधो? मिच्छतस्स णाणावरणादि सेस कम्माणं च । ज.घ.पु. १२ पृ. ३११

(16) मिच्छत पच्चएवे दंसण मोहणीयस्स बंधो होइ, तेण विणा सेसपच्चएहि तब्बंधो णस्थिति । जयधवल पृ. १२ पृ. ३१३

- 17) मिच्छाइट्टि चेव दंसण मोहणीयस्स मिच्छत पच्चएण बंधगो होइ णाणो ।

उपर्युक्त कसाय पाहुड एवं जय धवल टीका क्या मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर सिद्ध करती हैं? क्या कषाय से ही मिथ्यात्व का बंध होता है, यैसा

इस आर्ष ग्रन्थ से सिद्ध होता है ? अपितु क्या इससे मिथ्यात्व अधिकरण नहीं है परन्तु अधिक करण है यह सिद्ध नहीं होता है ?

(18) “एवं तिणहमण्डरस्स (मिच्छत्, सम्मत्, सम्मामिच्छत्ताण्डरस्स)

कम्पस्स उदयपरिणामेण मिच्छाइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी वेदय सम्माइट्टी वा होदि ति । (ज. ध. पु. 12 पृ.315)

क्या इस से सिद्ध होता है कि कषाय की ही छत्र छाया में मिथ्यात्व, पलता, फूलता एवं बढ़ता जाता है ?

सम्माइट्टी सद्दहदि पवयणं णियमसा दु उवइडं ।

सद्दहदि असभ्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ॥

जय ध्वल पु. 12 पृ. 321 गा. 107

सुत्तादो तं सम्म दरिसिज्जतं जदा ण सद्हदि ।

सो चेब इवइ मिच्छाइट्टि ति तदो पहुडि जीवो ॥

(पृ. 322 गा.1)

मिच्छाइट्टीणियमा उवइडं पवयणं ण सद्हदि ।

सद्हदि असभ्भावं उवइडं वा अणुवइडं । (108) ज.ध.पु.12पृ.322 आचार्य श्री विधासागर के गुरु आचार्य ज्ञानसागर कृत संयम सार की टीका से कुछ उद्धृत कर रहा हूँ ।

रागद्वेषमोह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बंध का कारण होता है । किन्तु उपर्युक्त तीनों विभावों से रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय भाव कभी बन्ध करने वाला नहीं होता । हाँ राग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वेष भाव से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह मिथ्यात्व से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है ।

सव्युक्तस्सठिदीणं मिच्छाइट्टी दु बंधगो भणिदो ।

आहारं तित्थयरं देवाऽनं चावि मोतूण । गो.कर्म.1 पृ. 130 गा. 135

उपर्युक्त गाथा से हमें क्या शिक्षा, दीक्षा, एवं प्रेरणा लेनी चाहिए ?

Note—मैंने जो सूत्रादि प्राकृतादि में ही देकर हिन्दी अनुवाद नहीं दिया इसका कारण यह है कि इस ही पुस्तक में इन सबके अनुवाद तथा विस्तृत समीक्षा है अतः कलेवर—वृद्धि भय से यहाँ नहीं दिया है पाठक वर्ग पुस्तक से अवलोकन करें ।

उपरोक्त सिद्धान्त और पुस्तक में वर्णित सिद्धान्त से सत्य जिज्ञासु, मुमुक्षु गुणग्राही को क्या यह श्रद्धान, ज्ञानादि नहीं होगा कि “मिथ्यात्व आस्रव एवं बंध प्रकरण (क्षेत्र) में अकिञ्चित्कर” नहीं है परन्तु यह मत ही अकिञ्चित्कर है, जिनमत नहीं है, किन्तु निजमत है अभिमत है परन्तु अभिनन्दनीय नहीं, अविचारितरम्य है, तथापि विचारितश्रम है । मानलो कोई एकान्ति भोगवादी सम्यक् दर्शन की चर्चा करता है परन्तु मिथ्यात्व की चर्या करता है, आध्यात्मिक की बात करता है किन्तु अधिभौतिकवादी बना हुआ है कसाय पाहुड पढ़ रहा है कषाय बढ़ा रहा है, द्रव्यसंग्रह पढ़ रहा है और द्रव्यों (धन) का संग्रह कर रहा है, मूलाचार पढ़ रहा है और मुद्दाचारी बना हुआ है, श्रावकाचार नहीं पाल रहा है परन्तु साधकाचार्य (साधक श्रेष्ठ-साधु आदि) की निन्दा कर रहा है, समयसार पढ़ रहा है किन्तु संयम को असार मान रहा है तो उनका अवश्य आगमोक्त पद्धति से प्रतिशोध के परिवर्तन में परिशोधन / निरसन / परिवर्तन करना चाहिये न कि सम्यक् दर्शन के प्रतिरोधी (मिथ्यात्व) को अकिञ्चित्कर कहना चाहिये । परन्तु कहना चाहिये कि अभव्य एकान्ति, भोगवादी, कषायी, मूद्दाचारी, मिथ्याचारी की टेपरिकार्ड के समान सम्यक् दर्शनादि की चर्चा अकिञ्चित्कर है ।

अंधकार का परिशोधन जैसे अंधकार से नहीं होता है वैसे ही मिथ्यामत का परिशोधन मिथ्यामत से नहीं होता है परंतु अंधकार का परिशोधन जैसे प्रकाश से होता है वैसे ही मिथ्यामत का परिशोधन सत्यमत से होता है ।

परमागमस्य जीवं निषिध्दजात्यंधसिधुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

लोकत्रयेकनेत्रं नमामि परमागम् ॥

सत्यसाम्यसुखाय नमो नमः ॥

तज्जयति परं ज्योतिः ॥

जिज्ञासु- / प्रस्तोता-

उपाध्याय कनकनन्दी

## आद्य-पठनीय

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धांतार्थ विष्लवे ।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूप प्रकाशने ॥ (ज्ञानार्णव)

जब जहां सत्य धर्म का नाश होता हो, यथार्थ क्रिया का विधंस होता हो, समीचीन सिद्धान्त-अर्थ का अपलाप/विनाश होता हो तो समय सम्यक् धर्म, क्रिया और सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार, सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना चाहिए क्योंकि इससे धर्म-रक्षा होती है जिससे स्व-पर-राष्ट्र-विश्व की सुरक्षा समृद्धि होती है ।

दिग्म्बर जैन साधु का प्राचीन आगमोक्त व्यापक पर्यायवाची शब्द है 'समण' अर्थात् 'श्रमण' । इसका अर्थ है जो आत्मा के लिए श्रम करता हो, समस्त बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को साम्यभाव से सहन करता हो, सुख-दुःख में, मित्र-शत्रु में, लाभ-अलाभ में, जन्म-मरण में, निन्दा-प्रसंशा में, सम्मान-अपमान में जो साम्यभाव रखता हो उसे श्रमण कहते हैं । ऐसे व्यक्ति समस्त संकल्प-विकल्प को त्यागकर मन, वचन, काय को निरोध कर आत्मा में रमण करता है, अथवा रमण करने के लिए पुरुषार्थ करता है । उनका परम लक्ष्य समस्त बाह्य प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर अन्तरंग में प्रवृत्ति करना है । वे वाद विवाद से भी निवृत्त रहते हैं ।

कुन्द-कुन्द देव ने कहा है—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।

तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहि वज्जज्जो । (156) पृ. 422 नि.सा.)

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, और नाना प्रकार की लब्धियाँ (परिणाम) हैं इसलिए स्व और पर समय सम्बन्धी वचन विवाद वर्जित (त्याग) करना चाहिए ।

अनादिकाल से जीव कर्मों से आच्छन होकर स्व स्वभाव से च्युत होकर विभिन्न कर्मों के उदय से एवं उसके क्षयोपशम से उसके विभिन्न प्रकार के भाव होते हैं और वह उन भावों से प्रेरित होकर विभिन्न कार्य करता है । जब तक उसका योग्य क्षयोपशम नहीं होता है तब तक उसका तद्योग्य भावना एवं क्रिया भी नहीं होती इसलिए इस गाथा में

कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि व्यर्थ वाद-विवाद करके राग-द्वेष नहीं करना चाहिए । यह तो हुआ उत्सर्ग—सर्वश्रेष्ठ मार्ग । परन्तु चतुर्थकाल में भी सामान्य तद्भव मोक्षगामी जीव भी ऐसे परम साम्यावस्था रूपी अभेद रलत्रय में सतत् स्थिर नहीं रह पाते हैं । अमृतचंद्र सूरि ने प्रवचनसार में कहा भी है—“अथाविच्छिन्न सामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनामर्हति” अविच्छिन्न (अनवरत) सामायिक में आरूढ़ होने पर भी श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापना के योग्य है, अर्थात् जब अभेद रलत्रयरूपी साम्यभाव नहीं होता है, तब श्रमण भेद रलत्रय रूपी मूलगुण एवं उत्तरगुण को पालन करता है, इसे ही छट्टेगुणस्थानवर्ती साधुओं की शुभोपयोगी की क्रिया कहते हैं । कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में शुभोपयोगी मुनियों के आचरण का वर्णन करते हुए अनेक गाथाएँ दी हैं, उनमें से एक गाथा यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

अरहंतादिसु भृती वच्छलदा पवयणाभिजुतेसु ।  
विज्जति जदि सामणे सा सुहजुता भवे चरिया ।

(246) (प्र.सा.पृ.589)

श्रमण में यदि अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभयुक्त चर्या-शुभोपयोगी चारित्र है ।

छट्टेगुणस्थानवर्ती मुनि सराग सम्यक्-दृष्टि है, इसलिए मुनि सम्यग्दर्शन के आठ अंग के साथ-साथ अन्य-अन्य गुणों का भी पालन करते हैं । सम्यक्दृष्टि सर्वज्ञ की वाणी में शंका नहीं करता है, धर्म करता हुआ उसके फलस्वरूप ऐहिक फल की इच्छा नहीं करता है, दूसरों के रलत्रय से जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता है, किसी भी मिथ्यामत को स्वीकार नहीं करता है, अर्थात् गुण-दोष का विवेकधारी होता है । खोटी भावना से दूसरों के दोष का उद्घाटन कर उसका तिरस्कार नहीं करता है, धार्मिक व्यक्ति के रलत्रय मार्ग से च्युत हो जाने पर उसकी उपस्थिपना करता है, धार्मिक व्यक्तियों के प्रति वात्सल्य भाव (धर्मप्रिय, आदरभाव) रखता है, एवं धर्म की प्रभावना करता है । उपर्युक्त गुणों से प्रेरित होकर वह धार्मिक क्रियाएँ भी करता है । प्रभावना अंग का वर्णन करते हुए समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।  
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्रभावना । (18) (र. श्रा. पृ. 33)

अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिन शासन के महात्म्य को प्रकट करना प्रभावना गुण है ।

उपर्युक्त कारणों से ही प्रेरित होकर मैंने इस किताब की रचना की है। इस रचना में न किसी की निन्दा करना है, न किसी की प्रशंसा किन्तु मेरा परिणाम सत्य को उजागर करना है। सत्य से ही सबका उपकार होता है। पंचाध्यायी में कहा भी है—

यद्यपि इस पंचाध्यायी ग्रन्थ के रचने में अन्तरंग कारण कवि का विशुद्धतर परिणाम है तो भी उस अन्तरंग कारण का भी कारण सबका उपकार करने वाली सुबुद्धि है। (5)

सभी जीव सुगम उक्त द्वारा धर्म सुनना चाहते हैं ऐसी विज्ञप्ति के होने पर उसके लिये इस विषय में यह उपक्रम लाभप्रद है। (6) पृ. 4

इस पुस्तक का अध्ययन करके कोई रुष्ट हो या संतुष्ट हो, निन्दा करे या प्रशंसा करे, तलवार चलाये या पुष्ट-वृष्टि करे, इसकी उपेक्षा करके केवल सत्य को उजागर करना एवं स्व-पर का उपकार करना ही मेरी अपेक्षा है। कहा भी है—

“रुसउ वा परो मा वा, विसं वा परियतउ।  
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुण करिया”। (श्वे. साहित्य)

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे वह उपदेश को विष रूप से समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिये।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात्।  
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ (श्वे. साहित्य)

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रह बुद्धि से हितकर उपदेश करता है, उसे अवश्य ही पुण्य होता है। अतः मैं “मेरी मति सन्मति हो इसकी अनिवार्यता स्वीकार करता हूँ, परन्तु दूसरों की सहमति ही हो इसकी अनिवार्यता नहीं है” नीति को स्वीकार करता हूँ।

मैंने जो कुछ इस पुस्तक में वर्णन किया है यह वर्णन वस्तुतः मेरा नहीं है, परन्तु पूर्व आचार्य प्रणीत आगमोक्त सिद्धान्तों का संग्रह ही है। छद्मस्थ होने के कारण इस विषय में सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान हममें नहीं है, परन्तु सर्वज्ञ भगवान प्रत्यक्ष दृष्टि होते हैं। और उनके द्वारा प्रतिपादित विषय को गणधरादि परम्परा

आचार्य आगम में लिपिबद्ध करते हैं। वही आगम ही हमारे लिए सम्प्रदर्शन, सम्प्रज्ञान, एवं सम्प्रचारित्र के लिए कारण बनता है। इसलिए सूक्ष्म जिनोपदेश को स्वीकार करना मुमुक्षुओं के लिए प्रधान एवं प्रथम कर्तव्य हो जाता है। कहा भी है—

“सूक्ष्म जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।

आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राहां नान्यथा वादिनो जिनाः ।” (आलाप पद्धति) असत्य-प्रतिपादन तब हो सकता है, जब वक्ता अज्ञानी, रागद्वेषी, प्रमादी, भीरु अर्थात् प्रतिफलादि की इच्छा रखने वाला हो। किन्तु उपरोक्त दोषों से रहित होने पर मिथ्या प्रतिपादन का कोई कारण नहीं रह जाता है। उपर्युक्त दोषों को जीतने वाले जिनेन्द्र हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उस सिद्धान्त का हेतु द्वारा खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसलिए उन्हीं के वचनों की आज्ञा सिद्ध मानकर विश्वास करना चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते।

कुन्दकुन्द देव ने प्रवचनसार में आगम को साधु की चक्षु आगम के अनुसार चलने वाला सर्वश्रेष्ठ साधु आगम श्रद्धा बिना सम्प्रदर्शन का अभाव आदि महत्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन करते हुए निम्न प्रकार कहा है—

आगमचक्खु साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।

देवा य ओहिचक्खु सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु । (234) पृ.560

साधु आगमचक्खु है, सर्वप्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले हैं, देव अवधिचक्षु वाले हैं और सिद्ध सर्वतः चक्षु हैं।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुण पञ्जएहिं चित्तेहिं ।

जाणति आगमेण हि पेच्छिता ते विते समणा । (235)

विचित्र गुणपर्यायों सहित समस्त पदार्थ आगमसिद्ध हैं। उन्हें भी वे श्रमण आगम द्वारा वास्तव में देखकर जानते हैं।

एयगगदो समणो एयगं णिच्छिदस्स अत्येसु ।

णिच्छिती आगमदो आगमचेष्टा तदो जेष्टा । (232) पृ.554

श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान से होती है, पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है, इसलिए आगमाभ्यास तथा उसकी प्रवृत्ति मुख्य है।

आगम पुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संज्मो तस्स।  
जत्थेदि भण्दि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो । (236) पृ.564

इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि (दर्शन) नहीं है, उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है, और जो असंयत है वह श्रमण कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।  
अविजाणंतो अट्टे खवेदि कम्माणि किध भिक्खु । (233) पृ.558

आगमहीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता, पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किस प्रकार क्षय करे ।

ण हि आगमेण सिज्जदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।  
(1/2, 237) पृ.566

आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो, सिद्धि नहीं होती, पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता ।

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहि आदं परं च दव्वेसु ।  
अभिगच्छदु इच्छा दि णिम्मोहं जदि अप्पणो अप्पा । (90) पृ. 202

इस कारण से जो आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिन मार्ग से द्रव्यों में से गुणों के द्वारा स्व और पर को जानों ।

अतएव साधु को आगमनिष्ठ, आगमप्राण होना सर्वप्रथम कर्तव्य है । वीरसेन स्वामी ने तो ध्वला एवं जयध्वला में अनेक स्थल में कहा है कि वह तर्क सुर्तक है, जो तर्क आगम को सिद्ध करता हो सत्य को प्राप्त कराता हो परन्तु वह तर्क कुतर्क है जो आगम के विपरीत चलता हो, सत्य से दूर हटाता हो । वीरसेन स्वामी ने ध्वला में, नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्भट्सार में, शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में तथा कई-कई अन्य आचार्यों ने एक विषय को अत्यन्त जोर देकर कहा है कि जो व्यक्ति किसी कारण वशः आगम के विरुद्ध भी श्रद्धा कर लेता है, परन्तु वह नहीं जानता है कि यह आगम विरुद्ध सिद्धान्त है तब तक तो वह अन्तरंग श्रद्धा के कारण सम्यक्दृष्टि रहता है परन्तु विशेष आगम से आगम को दिखाकर पूर्वोक्त सिद्धान्त को आगम विरुद्ध सिद्ध करने पर भी वह हठग्राही के कारण, दुराग्राही होने के कारण, अहंकार के कारण

या तुच्छ प्रसिद्धि/ख्याति/पूजा/सम्मान का लोप हो जाएगा इस भय के कारण नहीं मानता है तब वह तत्क्षण मिथ्यादृष्टि हो जाता है । यथा—

आसवसंवरणज्जरबंधो मोक्खो य पुण्यपावं च ॥  
तह एव जिणाणाए सद्दहिद्वा अपरिसेसा ॥(37)  
(भ. आ. भा. I पृ.74)

आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष और पुण्य पाप में सब सातों पदार्थ को उसी प्रकार जिनदेव की आज्ञा से श्रद्धान करनी चाहिये ।

सम्माइट्टि सद्दहिदि पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं ।  
सद्दहिदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा ।

(107) जय घ.पु.12, पृ. 321

सम्यग्दृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है । तथा स्वयं न जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है ।

210, एदस्स सम्माइट्ठि लक्खणविहाणट्ठमवइण्णस्स गाहा सुत्तस्स अत्थविवरणं कस्सामो । तं जहा-सम्माइट्ठि जो जीवों सो णियमसा दु णिच्छएणेव पवयणमुवइट्ठ सद्दहिदि ति गाहापुव्वद्दे पदाहि संबंधो । तत्य पवयण मिदि वुते पयरिसजुतं वयणं पवयणं सव्वणहोवएसो परमागमो ति सिद्धन्तो ति एयट्ठो, तत्तो अण्णदरस्स पयरिसजुत्तस्स वयणस्साणुवलंभादो । तदो एवंविहं पवयणमुवइट्ठं सम्माइट्ठी जीवो णिच्छएण सद्दहिदि ति सुत्तथसमुच्चओ । ‘सद्दहिदि असब्भावं’ एवं भाषिदे असब्भूदं पि अत्थ सम्माइट्ठी जीवो गुरुवयणमेव पमाणं कादूण सयमजाणमाणो संतो सद्दहिदि ति भणिदं होदि । एदेण आणासम्मत्तस्स लक्खण परुविदमिदि धेत्तव्वं । कथं पुनरसद्भूतमर्थमज्ञानात् प्रतिपद्यमानः सम्यग्दृष्टिरिति चेत् ? न, परमागमोपदेश एवायमित्यध्यवसायेन तथा प्रतिपद्यमानस्यानवबुद्ध परमार्थस्यापि तस्य सम्यदृष्टिवाप्रच्युते । यदि पुनः सूत्रान्तरेणाविसंवादिना समयविद्धिर्यथात्येन प्रज्ञाप्यमानमपि तमर्थमसद्ग्रहान्तं प्रतिपद्यते तदा प्रभूति स एव जीवो मिथ्यादृष्टिपदवीमवगाहते, प्रवचनविरुद्धबुद्धित्वादित्येष समय निश्चयः । तथा चेवतं—

सुतादो तं सम्मं दरिसज्जतं जदा ण सद्दहिदि ।  
सो चेव हवइ मिच्छाइट्टि ति तदो पहुडि जीवो ।(1)इति

ततः सूक्तमाज्ञाधिगमाभ्यां प्रवचनोपदिष्टष्टार्थाऽवैपरीत्यश्रद्धानं सम्यग्दृष्टि-  
लक्षणमिति ।

सम्यग्दृष्टि के लक्षण का कथन करने के लिए आये हुए इस गाथा सूत्र के अर्थ का कथन करेंगे । यथा—जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह 'ण्यमस' निश्चय से ही उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है इस प्रकार गाथा के पूर्वार्थ में पदों का सम्बन्ध है । उनमें से 'पवयण' ऐसा कहने पर उसका अर्थ है— प्रकर्षयुक्त वचन । प्रवचन अर्थात् सर्वज्ञ का उपदेश, परमागम और सिद्धान्त यह एकार्थवाची शब्द है, क्योंकि उससे अन्यतर प्रकर्षयुक्त वचन उपलब्ध नहीं होता । अतः इस प्रकार के उपदिष्ट प्रवचन का सम्यग्दृष्टि जीव निश्चय से श्रद्धान करता है इस प्रकार सूत्रार्थ का समुच्चय है । 'सद्दहइ असभावं' ऐसा कहने पर असद्भूत अर्थ का भी सम्यग्दृष्टि जीव गुरुवचन को ही प्रमाण करके स्वयं नहीं जानता हुआ श्रद्धान करता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है । इस गाथा सूत्र वचन द्वारा आज्ञा सम्यक्त्व का लक्षण कहा गया है ऐसा ग्रहण करना चाहिए ।

शंका—अज्ञानवश असद्भूत अर्थ को स्वीकार करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह परमागम का ही उपदेश है ऐसा निश्चय होने से उस प्रकार स्वीकार करने वाले उस जीव को परमार्थ का ज्ञान नहीं होने पर भी सम्यग्दृष्टिपने से च्युति नहीं होती ।

यदि पुनः कोई परमागम के ज्ञाता विसंवाद रहित दूसरे सूत्र द्वारा उस अर्थ को यथार्थरूप से बतलावे फिर भी वह जीव असत् आग्रहवश उसे स्वीकार करता है तो उस समय से लेकर वह जीव मिथ्यादृष्टि पद का भागी हो जाता है, क्योंकि वह प्रवचन विरुद्ध बुद्धिवाला है यह परमागम का निश्चय है । कहा भी है—सूत्र से समीचीन रूप से दिखलाये गये उस अर्थ का जब यह जीव श्रद्धान नहीं करता है उस समय से लेकर वही जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है । इसलिये यह ठीक कहा है कि प्रवचन में उपदिष्ट हुए अर्थ का आज्ञा और अधिगम से विपरीतता वे बिना श्रद्धान करना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है । इस गाथा सूत्र में जो यह बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता है । किन्तु कदाचित् स्वयं न जानता हुआ गुरु के निमित्त से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है । सो उसका यह अर्थ नहीं हैं वि-

सम्यग्दृष्टि जीव को जीवादि नौ पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को छोड़कर गुरु के निमित्त से विपरीत रूप से भी उनकी श्रद्धा हो जाती है । किन्तु उक्त कथन का इतना ही तात्पर्य है कि जिनागम में जिन सूक्ष्म अर्थों का विवेचन हुआ है, कदाचित् गुरु के निमित्त से उनमें से किसी एक का विपरीत ज्ञान हो जाय और अविसंवादी शास्त्रान्तर से जब तक सम्यक् अर्थ की प्रतिपत्ति का योग न मिले तब तक वह वैसी श्रद्धा करता हुआ भी सम्यग्दृष्टि ही है । हाँ यदि सम्यज्ञ कोई विशेष ज्ञानी अविसंवादी दूसरे शास्त्र से उसे उक्त विषय का सम्यक् परिज्ञान करा दे, फिर भी वह असत् आग्रह वश अपनी हठ न छोड़े तो उस समय से लेकर वह नियम से मिथ्यादृष्टि हो जाता है ऐसा यहां स्पष्ट रूप समझना चाहिए ।

मिच्छाइटि॒ णियमा उवैट्ठं पवयणं ण सद्हादि॑ ।

सद्हादि॑ असभावं उवैट्ठं वा अणुवैट्ठं ।

(ज.ध. 12पृ. 322 गा.108)

मिथ्या दृष्टि॑ जीव नियम से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है तथा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भूत अर्थ का श्रद्धान करता है ।

एदस्स मिच्छाइटि॑ लक्खण परुवण्ट्ठमाणयस्स गाहासुतस्स अत्यो वुच्वदे । तं जहा— जो खलु मिच्छपटि॑ जीवो से णियमा णिच्छएण पवयणमुवैट्ठं ण सद्हादि॑ कि कारण मिदि॑ चेत्? दंसण मोहनीयोदयजणिदविवरीयाहिणिवेसत्तादो । तदो चेव 'सद्दहइ असभावं' असद्भूत मेवार्थमपरमार्थरूपमयं श्रद्धधाति॑ मिथ्यात्वोदयादित्यर्थः । 'उवैट्ठं वा अणुवैट्ठं' उपदिष्टमनुपदिष्टं वा दुर्माग्मिष दर्शन मोहोदयाच्छ्रद्धधातीति॑ यावत् । एतेन व्युद्ग्राहितेतरभेदेण मिथ्यादृशो द्वैविध्यं प्रति॑ पादितमित्रदृष्ट्व्यं । उक्तं च—

मिथ्यादृष्टि॑ के लक्षण का कथन करने के लिये आये हुए इस गाथा सूत्र के अर्थ का कथन करते हैं । यथा—जो नियम से मिथ्यादृष्टि॑ जीव है वह 'णियमा' निश्चय से उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है ।

शंका—इसका क्या कारण है ?

समाधान—क्योंकि वह दर्शन मोहनीय के उदय से विपरीत अभिनिवेशवाला होता है । और इसीलिये 'सद्दहइ असभाव' अपरमार्थ स्वरूप

असद्भूत अर्थ का ही मिथ्यात्व के उदय से यह श्रद्धान करता है यह उक्त कथा का तात्पर्य है। 'उवइट्ठ का अणुवइट्ठ' अर्थात् उपदिष्ट या अनुपदिष्ट दुर्मार्ग वही दर्शन मोह के उदय से यह श्रद्धान करता है यह उक्त कथन का तात्पर्य है इस गाथा सूत्र वचन द्वारा व्युद् ग्राहित और इतर के भेद से मिथ्यादृष्टि के दो भेदों का प्रतिपादन किया गया जानना चाहिए। कहा भी है—

मिच्छतं वेदांते जीवो विवरीयदंसणो होइ ।  
ण य धर्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो । (2)

तं मिच्छतं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाण  
संसइयमभिग्नहियं अणभिग्नहियंति तं तिविहं । (3) इति—

मिथ्यात्व का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला होता है जैसे ज्वर से पीड़ित मनुष्य को मधुर रस नहीं रुचता है वैसे ही उसे रलत्रय ध नहीं रुचता है। जो जीवादि नौ तत्त्वार्थों का अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है संशयिक, अभिग्रहीत और अनभिग्रहीत इस प्रकार वह तीन प्रकार का है।

इस गाथासूत्र में मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप का निरूपण किया गया है पहले 'प्रवचन' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण कर आये हैं। जो सर्वज्ञ देव व उपदेश है वही 'प्रवचन' कहलाने का अधिकारी है, अन्य नहीं। यतः मिथ्यादृष्टि जीव परमार्थ के ज्ञान से रहित होता है, अतः उसके प्रवचन का श्रद्धान किसी अवस्था में नहीं बन सकता। वह कुमार्गियों के द्वारा उपदिष्ट हो या अनुपदिष्ट हो मिथ्या मार्ग का अवश्य ही श्रद्धान करता रहता है, इसलिये उसे मिथ्या मार्ग रुचता है, सम्यग्मार्ग नहीं यह उक्त कथन का तात्पर्य है। यहाँ ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव के तीन भेद किये गये हैं—

संशयिक मिथ्यादृष्टि, अभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि और अनभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीवादि नौ पदार्थ हैं या नहीं हैं इत्यादि रूप से जिसका श्रद्धान दोलायमान रहा है वह संशयिक मिथ्यादृष्टि जीव है। जो कुमार्गियों के द्वारा उपदेशे गये पदार्थों को यथार्थ मानकर उनकी उस रूप में श्रद्धा करता है वह अभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव है और जो उपदेश के बिना ही विपरीत अर्थ की श्रद्धा करता आ रहा है वह अनभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव है।

पदमक्खरं च एकंपि जो ण रोचेदि सुतणिद्धिं ॥

सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिद्धी मुणेयवो । (38) (भ.आ.भा. I पृ.16)

जिसे पूर्वोक्त सूत्र में कहा एक भी पद और अक्षर नहीं रुचता। शेष में रुचि होते हुए भी निश्चय से उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

पदमक्खरं इति। पदशब्देन पदसहचारी पदस्यार्थ उच्यते। 'अक्खरं च' इति स्वल्पशब्दोपलक्षणं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा। 'जो' यः। 'ण रोचेदि' न रोचते। 'सुतणिद्धिं' पूर्वोक्तप्रमाणनिर्दिष्टम्। 'सेसं' इतरं श्रुतार्थं श्रुतांशं रोचंतोऽपि। 'मिच्छादिद्धिं' मिथ्यादृष्टिरिति। 'मुणेदव्वो' ज्ञातव्यः। महति कुंडे शितं बह्विष्यतो यथा विषकणिका दूषयति। एवम् श्रद्धानकणिका मलिन मत्यात्मनमिति भावः।

'पद' शब्द से पद का सहचारी पद का अर्थ कहा गया है। अक्षर से थोड़े शब्द लिये गये हैं, थोड़ा सा भी अर्थ अथवा शब्द श्रुत जो आगम में कहा गया वह जिसे नहीं रुचता और शेष आगम रुचता भी हो, तब भी उसे मिथ्यादृष्टि ही जानना। जैसे बड़े कुण्ड में भरे हुए बहुत दूध को भी विष का कण दूषित कर देता है उसी प्रकार अश्रद्धान का एक कण भी आत्मा को दूषित कर देता है।

मोहोदयेण जीवो उवइद्धुं पवयणं ण सद्दहदि ।  
सद्दहदि असब्भावं उवइद्धुं अणुवइद्धुं वा ॥ (39) ॥

मोह के उदय से जीव उपदिष्ट प्रवचन को श्रद्धान नहीं करता, किन्तु उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट असमीचीन भाव अर्थात् अतर्त्व का श्रद्धान करता है।

मोहोदयेणेति। साध्याहारत्वात् सूत्राणामध्याहारेण सहैवं पदघटना। जो जीवो उवदिद्धुं प्रवयणं मोहोदयेण सद्दहदि उवदिद्धुं अणुवदिद्धुं वा असद्भाव सद्दहदि। सो मिच्छादिद्धीति। मोहयति मुहेतेऽनेनेति वा मोहो दर्शन मोहनीयाख्यं कर्म मद्येन तुल्यवीर्यम्। यथा मद्यमासेवयमानं अपाटवं प्रशाया वैपरीत्यं च संपादयति।

सूत्र में अध्याहार किया जाता है अर्थात् अन्यत्र से कुछ पद लिये जा सकते हैं। अतः अध्याहार के साथ इस प्रकार पदों का सम्बन्ध मिलाना चाहिये। जो जीव उपदिष्ट प्रवचन को मोह के उदय से श्रद्धान नहीं करता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव का श्रद्धान करता है वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मोह से दर्शनमोहनीय कर्म लेना। उसमें मद्य के समान शक्ति होती है। जैसे मद्य का

सेवन बुद्धि को मन्द और विपरीत कर देता है। वही दशा इस दर्शन मोहनीय कर्म की है।

सम्भाइट्टी जीवो उवइट्टं पवयणं दु सद्हति ।  
सद्हदी असब्भावं अजाणमाणो गुरुनियोगा ॥

(27) ॥ (गो.सा.जी.का.भा. I पृ. 58)

यः अर्हदाद्युपदिष्टं प्रवचनं आप्तागमपदार्थत्रयं श्रद्धाति-रोचते, तेषु असद्भावं-अतत्वमपि तस्य विशेषज्ञानशून्यत्वेन केवल गुरुनियोगात् अर्हदाद्याज्ञातः श्रद्धाति सोऽपि सम्यग्दृष्टिरेव भवति तदाज्ञाया अनतिक्रमात् ।

जो जीव अर्हन्त आदि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा रखता है, साथ ही उनके विषय में असद्भाव अर्थात् अतत्व भी स्वयं के विशेष ज्ञान से शून्य होने से, केवल गुरु के नियोग से कि जो गुरु ने कहा वही अर्हन्त भगवान् की आज्ञा है श्रद्धान करता है, वह भी सम्यग्दृष्टि ही है। अर्थात् अपने को विशेष ज्ञान न होने से और गुरु भी अल्पज्ञानी होने से वस्तुस्वरूप अन्यथा कहे और यह सम्यग्दृष्टि उसे ही जिनाज्ञा मानकर अतत्व का श्रद्धान कर ले तब भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।

सुतादो तं सम्मं दरिसिज्जतं जदा ण सद्हदि ।  
सो चेव हवइ मिच्छाइट्टी जीवो तदो पहुडि ॥(28) ।

तथा असदर्थश्रद्धानः आज्ञासम्यग्दृष्टिर्जीवो यदा कुशलाचार्यान्तर्तः प्राक्तनतदगृहीतासदर्थरूप विपरीततत्वं गणधरादिकथितसूत्रं दर्शयित्वा सम्यकप्ररुपमाण तत् दुराग्रहादेशेन न श्रद्धाति तदा प्रभृति स जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति । सूत्राश्रद्धानेन आज्ञातिक्रमस्य सुप्रसिद्धत्वादेव कारणात् ।

उक्त प्रकार से असत् अर्थ का श्रद्धान करता हुआ आज्ञासम्यग्दृष्टि जीव जब अन्य कुशल आचार्यों के द्वारा पूर्व में उसके द्वारा गृहित असत्यार्थ से विपरीत तत्व गणधर आदि के द्वारा कथित सूत्रों को दिखाकर सम्यक् रूप से बतलाया जावे और फिर भी वह दुराग्रह वश उस सत्यार्थ का श्रद्धान न करे तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है, क्योंकि गणधर आदि के द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान न करने से जिन आज्ञा का उल्लंघन सुप्रसिद्ध है। इसी कारण वह मिथ्यादृष्टि है।

मिच्छतं वेदंतो जीवो विपरीयदंसणो होदि ॥

ए य धर्मं रोचेदि हु महुं खु रसं जहा जिरदो । (प्र.) । (भ.आ.पृ. 77)

मिथ्यात्व को वेदन-अनुभवन करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। उसे धर्म नहीं रुचता। जैसे ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को निश्चय से मधुर रस नहीं रुचता।

मिच्छाइट्टी जीवो उवइट्टं पवयणं ण सद्हदि ।  
सद्हदि असब्भावं उवइट्टं वा अणुवइट्टं ॥

(18) (गो.सा.जी.का.1 भा.पृ.48)

मिथ्यादृष्टिर्जीवः उपदिष्टं-अर्हदादिभिर्व्यञ्यातं, प्रवचनं आप्तागमपदार्थत्रयं न श्रद्धाति-नाभ्युपगच्छति । प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ प्रवचनः आप्तः, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं-परमागमः, प्रकृष्टमुच्चते-प्रमाणेन अभिधीयते इति प्रवचनं पदार्थः, इति निरुक्त्या प्रवचनशब्देन तत्वयस्याभिधानात् । पुनः स मिथ्यादृष्टिः असद्भाव-मिथ्यारूपं प्रवचनं आप्तागमपदार्थं, उपदिष्टं-आप्ताभासैः प्रकथितं अथवा अनुपदिष्टं-अकथितमपि श्रद्धाति ।

इसी वस्तु स्वभाव के अश्रद्धान को स्पष्ट करते हैं— मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, ‘प्रवचन’ अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है यैसा आप्त प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्टरूप से जो कहा जाता है वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ । इन निरुक्तियों से ‘प्रवचन’ शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहें जाते हैं। तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन, यानी आप्त आगम पदार्थ का ‘उपदिष्ट’ अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

सम्यग्दृष्टि सज्जन-गुणग्राही होता है । वह राजहंसवत् मिश्रित क्षीर-नीर से नीर को अलग करके क्षीर को ग्रहण करता है। इसके विपरीत दुर्जन, दुराग्राही जोंके के समान दूध से भेरे थन से भी दूध ग्रहण न करके दूषित रक्त को ग्रहण करता है या अपने मत के अनुसार ही वस्तु स्वरूप को जानता है, मानता है, प्रतिपादन करता है। कहा भी है—

आग्रहीवत् विनीषितो युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।  
पक्षपात रहितस्य तु युक्ति यत्र तत्र मतिरेति निवेशनम् ॥

दुराग्राही मनुष्य ने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्ति को उसी ओर ले जाना चाहता है किन्तु जो आग्रह रहित होकर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना चाहता है, वह युक्ति का अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता है और तदनुसार वस्तुस्वरूप का निश्चय करता है।

महाकवि कालीदास ने कहा—

“सन्तः परीक्षान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धः” जो मूढ़ होते हैं वे पर की बुद्धि के अनुसार चलते हैं। मनुष्य एक अनुकरण प्रिय जीव है किन्तु जिस मनुष्य में सत्य-असत्य का विवेक नहीं होता है वह अन्य असम्यक् प्रवृत्ति का भी अनुकरण कर लेता है। ज्ञानी की दृष्टि में Right is mine जो सत्य है, वह मेरा है किन्तु Mine is right अर्थात् जो मेरा है वह सर्व सत्य है, इस प्रकार दृष्टिकोण नहीं रहता है।

मैंने जो इस पुस्तक में कुछ पूर्वाचार्यों के मतों का संकलन किया है उस मत में तो किसी प्रकार की गलती नहीं है, परन्तु जो मैंने यत्किंचित् स्वबुद्धि से लिखा है उसमें गलती होना स्वाभाविक है। क्योंकि मैं छद्मस्थ हूँ। छद्मस्थ से गलती होना स्वाभाविक है। परन्तु मैंने जानबूझकर किसी भी प्रकार आगम विरुद्ध सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया है। मेरा किसी से पक्षपात नहीं है और न मेरे प्रति कोई पक्षपात करें। मेरा पक्षपात सत्य है या मेरा सत्यग्राही दृष्टिकोण है। इसी प्रकार अन्य गुणग्राही सम्यग्दृष्टि जीव को होना चाहिये।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥(लोकतत्व निर्णय)

मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात नहीं है एवं कपिलादि में द्वेष नहीं है। किन्तु जिसका वचन युक्तियुक्त तर्क संगत परस्पर अविरोध यह लोक और परलोक हितकारी है, उन्हीं का वचन ग्रहण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

सम्यग्दृष्टि सत्यधर्म को मानने के कारण एवं जानने के कारण वह सत्यधर्म के प्रतिपक्ष मिथ्याधर्म को भी जानता है, किन्तु मानता नहीं है। सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी अर्थात् यथार्थज्ञानी होने के कारण वह सम्यग्ज्ञान रूपी कसौटी में धर्म या धर्मात्मा का परीक्षण करके उसके यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करता है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निर्घर्षणच्छेदनतापताडनैः ।

तथैव धर्मो विदुषा परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपो दया गुणैः ॥

जैसे रलपरीक्षक, स्वर्णकार सुवर्ण की परीक्षा के लिए स्वर्ण को कसौटी में धर्षण करता है, छेदन करता है, अग्नि में तपाता है तथा ताङ्न करता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञ मनीषी विद्वान्, धर्म की परीक्षा सत्यश्रुतज्ञान से, शील से तप तथा दयागुण से करने के उपरान्त यदि वह धर्म सत्य-परीक्षित होता है तब उसे स्वीकार करता है अन्यथा वह उसको स्वीकार नहीं करता है।

पूर्वाचार्यों ने भी श्रुतज्ञान को प्राधान्य करके निर्मल हृदय से तर्क की कसौटी पर कस कर स्वपर आत्म कल्याण के लिये आगम की रचना की है इसके लिए प्रमाण है पूज्यपाद स्वामी रचित समाधि तंत्र का तृतीय श्लोक यथा—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्तिं, समाहितान्तः करणेन सम्यक् ।  
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥

(3) । (स.तं.पृ. 7)

सिद्ध तथा अर्हन्त भगवान् को नमस्कार करने के पश्चात् मैं (श्रुतेन) आगम से, (लिंगेन) हेतु-युक्ति द्वारा, (समाहितान्तः करणेन) अपने चित्त को स्थिर करके, (यथात्मशक्तिं) अपनी शक्तिअनुसार (सम्यक् समीक्ष्य) अच्छी तरह जानकर (कैवल्यसुखस्पृहाणां) शुद्ध आत्म सुख के इच्छुक जीवों के लिए (विविक्तं आत्मानं) शुद्ध आत्म-तत्व को (अभिधास्ये) मैं कहूँगा ।

इस पुस्तक की रचना का एक इतिहास है। वह इतिहास यह है कि जब अनेक वर्ष पूर्व “मिथ्यात्व आस्त्रव व बंध के क्षेत्र में अकिञ्चित्कर” इस विषय पर चर्चा का प्रादुर्भाव हुआ तब ज्ञात हुआ कि इस चर्चा का उद्भव स्थल आचार्य श्री विद्यासागर है। जब मैंने यह चर्चा दक्षिण कर्णाटक के हुम्बुज पद्मावती क्षेत्र में 11 वर्ष पूर्व सुनी भी, तब मुझे विचार आया कि मैं इस सम्बन्धित कुछ प्रश्न पत्र के माध्यम से पूछ कर समाधान प्राप्त करूँ क्योंकि उस समय आचार्य श्री विद्यासागर (M.P.) में थे, जिसकी दूरी बहुत अधिक थी। फिर हमारा संघ विहार करता हुआ तुमकुर नगर में आया तथा वहाँ चातुर्मास हुआ। उस चातुर्मास की अवधि में कुछ व्यक्ति तीर्थयात्रा व मुनिसंघ के दर्शन के लिए निकले। उनसे मुझे ज्ञात हुआ कि वे इस यात्रा में आचार्य विद्यासागर के संघ में भी जाने वाले हैं तब मैंने “मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है” इस सम्बन्धित अनेक प्रश्न लिखकर भेजे थे और उन श्रावकों ने आचार्य श्री को दिखाया भी परन्तु उन्होंने एक भी प्रश्न के उत्तर नहीं दिये एवं कहे कि ध्वलादि का अध्ययन करने से उत्तर मिल जायेगा। और श्रावकों ने मुझसे कहा कि, उनके संघ के साधुओं ने इन प्रश्नों को अपनी डायरी में

Note करके रख लिया है। उपरोक्त विषय को जानने के लिए मैंने अनेक कोशिश की परन्तु पूर्ण सफलता नहीं मिली। उनके संघ से मेरे पास आने वाले क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी आदि को भी मैंने पूछा पर वे समर्थ उत्तर नहीं दे पाये। हमारा संघ विहार करते-करते जब बोरगांव (कर्णाटक) में आया तब आचार्य श्री विद्यासागर की गृहस्थान्नम की दोनों बहनें हमारे संघ के दर्शनों हेतु सदलगांव से आई उसने प्रथम दिन आचार्य कुन्त्युसागर जी व मुनि श्री पद्मनंदी जी से कुछ चर्चा करके मेरे पास आई तब मैंने भी उन्हें मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर संबंधी प्रश्न पूछा। उन्होंने कुछ उत्तर दिया परन्तु वे उत्तर अकाद्य नहीं थे। उनने मुझ से कहा कि हम गोमटसार शास्त्र आदि लाकर दिखायेंगे। कुछ दिन बाद शास्त्र भी लाकर दिखाये परन्तु उससे भी मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है ऐसा सिद्ध नहीं हुआ। मैंने उन्हें विभिन्न शास्त्रों के आधार पर सिद्ध करके दिखाया कि मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर नहीं है। फिर हमारा चातुर्मास शमनेबाड़ी में हुआ। तब मैंने साधुओं को ध्वला पढ़ाया। तब उन दोनों ने मेरे पास उस वाचना का भी अध्ययन पूरे चातुर्मास में किया। इसी प्रकार शेडवाल चातुर्मास में जयध्वला की वाचना में अध्ययन किया और उन ध्वला, जयध्वला में जो मिथ्यात्व संबंधी वर्णन आया उसे सुनकर वे संतुष्ट हुईं और प्रभावित भी हुईं। तब वे मुझसे मध्य-मध्य में यह बताने लगी की “उपाध्याय श्री! आचार्य श्री विद्यासागर जी ने जो मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर कहा है उसका अभिप्राय यह कि कुछ कुछ भोगवादी एकान्ती आध्यात्म के नाम पर कुन्दकुन्द के व समयसार के नाम पर सम्यगदर्शन की केवल चर्चा करते हैं और सम्यगदर्शन को ही सब कुछ मान लेते हैं और कषायवशः श्रावक व्रत या मुनिव्रत को स्वीकार नहीं करते हैं, व्रत और व्रतियों की निन्दा करते हैं। उनके प्रतिवाद के लिये यह कहा है। “यदि केवल ऐसा दृष्टिकोण है तो अनेकान्त दृष्टिकोण से विचारणीय है। समाधान करने योग्य है परन्तु यदि वे केवल कषाय से ही बन्ध मानते हैं और मिथ्यात्व को बंध और आस्त्रव के क्षेत्र में अकिञ्चित्कर मानते हैं तब यह उनकी मान्यता ही अकिञ्चित्कर है।

अब ‘अकिञ्चित्कर’ शब्द के ऊपर कुछ विचार करने योग्य है। इस शब्द का सन्धि विच्छेद करने पर होता है = अ + किञ्चित् + कर।

‘अ’ निषेध परक है क्योंकि यह ‘अ’ न ज् समासान्त का है ‘किञ्चित्’ का अर्थ है कुछ/थोड़ा/अल्प/स्वत्प/जरा सा है। ‘कर का अर्थ करना है।’ इसलिये पूर्ण अर्थ हुआ “जो कुछ भी नहीं करता हो।” अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का वर्णन करते हुए प्रमेयरलमाला में न्याय दीपिका आदि में निम्न प्रकार से कहा है—

“किञ्चिदकरणात् ॥(37) (प्रमेय रलमाला)  
न किञ्चित्करोतीत्यकिञ्चित्करः ।”

“अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः (न्यायदीपिका)  
किञ्चिदपि कर्तुभशक्यत्वादकिञ्चित्करो ।

जो कुछ नहीं करता हो उसे अकिञ्चित्कर कहते हैं। जो प्रत्यक्ष आगम आदि से बाधित हो वे भी अकिञ्चित्कर हैं। यथा—

“सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥”

साध्य के सिद्ध होने पर और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है।

इस अकिञ्चित्कर शब्द की व्युत्पत्ति, परिभाषा तथा भावार्थ आदि से विचार करने पर मिथ्यात्व को बंध एवं आस्त्रव क्षेत्र में अकिञ्चित्कर मानना आगम विरुद्ध है।

“कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया” में पं. जगमोहन लाल शास्त्री ने लिखा है कि—

इससे यह निर्णय होता है कि मिथ्यात्व के द्वारा स्थिति अनुभाग नहीं होता इस विषय पर सब आचार्य एकमत हैं। इस प्रसंग से बन्ध के चारों भेदों में मिथ्यात्व का निषेध हो जाने से उसे स्थिति अनुभाग बन्ध के कार्य में “अकिञ्चित्कर” कहा है। पृ. 4

परन्तु इनका ऐसा लिखना पूर्णतः आगम विरुद्ध और पक्षपात से ग्रसित है, मैं जो यह बता रहा हूँ, इस पुस्तक के स्वाध्याय से ज्ञात हो जायेगा। यह मेरा निजमत नहीं है परन्तु यह जिनमत है, आचार्यों का मत है इसके लिए तो मैंने विपुल प्रमाण इसी पुस्तक में दिया है परन्तु कुछ मुख्य प्रमाण यहाँ दे रहा हूँ। आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने बारस अणुपेक्खा में भावपरावर्तन रूप भाव संसार का वर्णन करते हुए कहा है—

सब्वे पयडिद्विदिओ अणुभाग पदेसंबंधठाणिणि ।

जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भाव संसारे ॥ (29) पृ. 16

इस भाव परावर्तन रूप संसार में मिथ्यात्व के वशीभूत जीव ने सभी (आठों) कर्मों के प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध के सभी स्थानों में बार-बार भ्रमण किया है।

खुद शास्त्री जी ने स्ववचन बाधित सिद्धांत यहाँ पर दिया है क्योंकि उनने अध्यात्म अमृत कलश में कहा है—

सम्यग्दृष्टि का अध्यवसान मोह रहित होने से इस प्रकरण में “अध्यवसान” नाम नहीं पाता। मिथ्या अध्यवसान को ही यहाँ अध्यवसान व बन्ध का कारण कहा है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्या अध्यवसान के अभाव में ‘अबन्धक’ ही कहा है। पृ. 224, गार्थार्थ 170

सारांश यह कि ग्रंथ में जो प्रकरण चला है वह मिथ्याध्यवसान को ही “अध्यवसान” मानकर चला है। अतः यहाँ अध्यवसान शब्द का अर्थ मिथ्यात्व सहित परिणाम ही जानना चाहिए।

भगवती आराधना में शिवकोटि आचार्य ने कहा है—

संसारमूलहेदुं मिच्छतं स्वधा विवज्जेहि ।  
बुद्धि गुणणिदं पि हु मिच्छतं मोहिदं कुणदि ॥ (723) (पृ. 461)

‘संसार मूल हेदुं’ संसारस्य मूल कारणं । ‘मिच्छतं’ अश्रद्धानं ।  
‘स्वधा’ मनोवाककायैः । ‘विवज्जेहि’ वर्जय ।

मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है उसका मन, वचन, काय से त्याग करो। क्योंकि मिथ्यात्व गुण युक्त बुद्धि को भी मूढ़ बना देता है।

एवं प्रामाण्यते सूत्रकारः ‘मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाययोग बन्धहेतवः’ इति वचने मिथ्यात्व बन्ध हेतेषु पूर्वमुपन्यस्तं बन्धपुरःसरश्च संसारः, संसार मूल हेतुर्मिथ्यात्वमिति बुद्धि अर्थयाथात्म्यपरिच्छेद गुणसमन्वितामपि मिथ्यात्वं विपरीतां कर्त्ता । अन्ये तु वदन्ति । बुद्धि गुणणिया पि खु शुश्रुषाश्रवण ग्रहण धारणादयो बुद्धे गुणास्तद्वेतुमपीति ।

सूत्रकार ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है—‘मिथ्यादर्शन्, अविरति, प्रमाद कषाय और योग बन्ध के कारण हैं। यहाँ उन्होंने बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है और बन्ध पूर्वक संसार होता है अतः संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है। वह पदार्थको यथार्थ रूप से जानने का गुण रखने वाली बुद्धि को भी विपरीत कर देता है।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना और धारण करना आदि बुद्धि के गुण हैं। ऐसी गुण युक्त बुद्धि को भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है।

परन्तु पंडित जी ने अंतिम पृष्ठ में लिखा है कि “न ही मिथ्यात्व के द्वारा स्थिति अनुभाग डालने की कल्पना करने की आवश्यकता रही” इससे उनकी कोरी कल्पनां की सिद्धि होती है न कि आगम की। क्योंकि तत्वार्थ सूत्र में उमास्वामी ने तथा राजवार्तिक में अकलंक देव ने कहा—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोग बन्धहेतवः ॥1 ॥  
समुदायावयवयोर्बन्ध हेतुत्वं वाक्य परिसमाप्ते वैर्चित्र्यात् ॥3 ॥

मिथ्यादर्शनादीनां बन्ध हेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् ।

वाक्यकी परि समाप्ति की विचित्रता होने से समुदाय और अवयव दोनों ही बन्ध के कारण हैं अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

“अंकितचित्कर” विद्यासागर जी आचार्य की किताब में लिखा हुआ है कि—

“मैं समझता हूँ कि इस तरह की विवक्षाओं को लेकर यदि मिथ्यात्व को कर्ता और करण रूप से कार्य के प्रति अकिञ्चित्कर कह दें तो कोई अन्योक्ति नहीं कहलानी चाहिए। यहाँ आस्त्रव और बन्ध का कर्ता और करण मिथ्यात्व नहीं होता तब अकिञ्चित्कर ही तो हुआ—यानि आस्त्रव और बन्ध में उसका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है।”

भैया ! चित्र तो चित्रकार के द्वारा ही बनाया गया, ऐसा माना जाता है इसी तरह यहाँ पर अनन्तानुबन्धी चित्रकार है और मिथ्यात्व चित्रपट । (पृ. 66)

इसी प्रसंग को ध्यान में रखकर मिथ्यात्व को अंकितचित्कर कहा गया है क्योंकि इस प्रसंग में मिथ्यात्व मात्र अधिकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है यानि मिथ्यात्व के उदय में करण अर्थात् अनन्तानुबन्धी अपनी शक्ति के द्वारा कर्ता बनकर इस बन्धरूप कार्य को करने वाली होती है।” (पृ. 65)

यह सिद्धान्त पूर्वाचार्य तथा आचार्य विद्यासागर के गुरु ज्ञान सागर जी के सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। क्योंकि—

रागद्वेष मोहरूप भावनामास्त्रवत्वं निश्चिनेति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि (174) पृ. नं. 169

रागद्वेषमोहा एव बन्धकारणमिति । आ. समयसार जयसेन

जीव के द्वारा किया हुआ रागादि युक्त-अज्ञान भाव ही नवीन कर्म के बन्ध होने में कारण होता है।

राग, द्वेष, मोह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बंध का कारण होता है किन्तु उपर्युक्त तीनों विभावों से रहित आत्मा का शुद्ध-ज्ञानमय भाव कभी बंध करने वाला नहीं होता। हाँ रागभाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वैषभाव (अदेखसकापन) असूया ईर्ष्या से तीव्र बन्ध होता है किन्तु मोह-मिथ्यात्व से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है।

‘मिथ्यात्व को अंकितचित्कर’ मानने से और भी अनेक आगम विरुद्ध सिद्धान्तों का पोषण होता है, जिसका वर्णन इसी पुस्तक में किया गया है, वहाँ से पाठक पूर्णरूप से अध्ययन करें।

“आचार्य विद्यासागर के पास जब मैंने पहले प्रश्न भेजे थे तब उन्होंने कहा था इसका उत्तर ध्वला-जयध्वला में है वहाँ से मिल जायेगा परन्तु मैंने जब ध्वला-जयध्वला आदि का स्वयं अध्ययन किया और दूसरों को करवाया तब पता चला कि यह उनका निजमत है जिनमत नहीं है।”

पंडित जगन्मोहन लाल शास्त्री ने अपनी पुस्तक “कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया” में जो कुछ लिखा है वह भी अनेक आगम विरुद्ध सिद्धांत से सहित है। प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने कुछ स्थान में आगम के अनुकूल भी लिखा है और उनका अन्तिम निवेदन भी कुछ सीमा तक सही है। यथा—“विनम्र निवेदन यह है कि साधु तो आगम चक्षु होता ही है पर विद्वानों को भी आगम चक्षु होना चाहिये।” इसलिये मेरा भी सबसे आग्रह है कि सत्यग्राही मुमुक्षु “अकिञ्चित्कर” पुस्तक, “कर्म बंध और उसकी प्रक्रिया” तथा मेरी प्रस्तुत पुस्तक को आगम की चक्षु से देखें और परीक्षा एवं समीक्षा करें। मैंने जो कुछ प्रश्न इस पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं उनका भी उत्तर आगमोक्त, अनेकान्त दृष्टिकोण से देने का प्रयास करें। आगमोक्त उत्तर का मैं स्वागत करूंगा।

मिथ्यात्व आस्त्रव एवं बंध क्षेत्र में अकिञ्चित्कर है, इस विषय को लेकर लिखने के लिये अनेक वर्ष पहले मुनि श्री कुमार विद्यानन्दी आदि अनेक साधुओं ने अनुरोध किया था परन्तु मैं अध्ययन, अध्यापन एवं शिविर और प्रायः 51 शोधपूर्ण साहित्य लिखने में अधिक व्यस्त होने के कारण समयाभाव से नहीं लिख पाया परन्तु जब मैंने साधुओं को प्रवचनसार का अध्यापन करवाया तब प्रवचनसार की गहनता, व्यापकता, दार्शनिकता, एवं वैज्ञानिकता से हमारे साधु प्रभावित हुये, मैं तो पहले से ही प्रभावित था ही, साधुओं ने अनुरोध किया और मेरा भाव हुआ कि प्रवचनसार की आधुनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विस्तारपूर्वक समीक्षा लिखूँ, जब समीक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ और बंध प्रकरण में जब रागदेष के साथ-साथ मोह (मिथ्यात्व) को भी बंध के लिये कारण बताया गया एवम् रागदेष, मोह से रंजित जीव के परिणाम को कषाय परिणाम कहा गया है तब हमारे साधुओं ने अनुरोध किया कि ‘गुरुदेव’ मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है इसके निरसन में एक पुस्तक लिखिये। तब मैंने प्रवचनसार की कुछ गाथाओं की समीक्षा लेकर और कुछ विषय विभिन्न प्राचीन शास्त्रों से लेकर इस पुस्तक की रचना की है। मेरा इस पुस्तक में स्पष्ट नाम लेकर लिखने के कुछ कारण हैं। यथा—

(1) यह पूर्वाचार्यों की प्रणाली है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने भी अन्य दार्शनिकों का नाम लेकर उनकी समीक्षा की है।

(2) स्पष्ट नाम लेने पर मायाचारी नहीं होती है परन्तु नाम नहीं लेकर उनके विषय पर बोलने व लिखने पर मायाचारी होगी।

(3) स्पष्ट नाम लेने पर एक लाभ और है कि जिन्हें शंका या जिज्ञासा हो वे उनसे या मुझसे शंका समाधान कर पायेंगे।

(4) स्पष्ट नाम लेने पर सामान्य व्यक्ति धम में नहीं पड़ेगे और यर्थार्थता को शीघ्र जान पायेंगे।

इस पुस्तक में कुछ विषय को अनेक बार विभिन्न, संदर्भ में इसलिये उद्धृत किया हूँ कि जिज्ञासा का विषय सरल हो जावे और विषय की धारणा हो जावें। इस पुस्तक को लिखने का और भी एक कारण है कि विद्यासागर आचार्य श्री की भावना है कि मिथ्यात्व के संबंध में और भी शोध-बोध हो। सत्योद्घाटन करना मेरा परम लक्ष्य है न कि कुतर्क वाद-विवाद या किस की निन्दा। इस पुस्तक की रचना के समय मैंने जो श्रमण के परस्पर आचरण में कुछ अतिक्रम-व्यक्तिक्रम को अनुभव किया है उसके परिशोधन के लिए “श्रमण संघ का परस्पर आचरण” पुस्तक की भी रचना की है।

यदि कोई जिज्ञासु, सत्यग्राही व्यक्ति, विद्वान, साधु या आचार्य आदि की सत्य को जानने के लिए मेरी पुस्तक सम्बन्धी शंका हो तो वे मुझसे प्रत्यक्ष से प्रश्न करें, मैं आगम की दृष्टि से उत्तर देने का योग्य परिस्थिति में योग्य पुरुषार्थ करूंगा। परन्तु सत्य को छिपाने के लिए या मत पोषण करने के लिए “उपेक्षा” नहीं करूंगा क्योंकि स्वपर कल्याण/प्रभावना/स्थितिकरणादि धर्मात्मा का कर्तव्य है। मेरा सबसे आह्वान है कि सत्य को जाने-माने एवं प्राप्त करें! मेरी महति भावना है कि अनेकान्तात्मक, त्रिकाल अबाधित, वैज्ञानिक जैन धर्म की महति प्रभावना हो और सर्व जीव शाश्वतिक सुख को प्राप्त करें एवं मिथ्यात्व का विनाश हो सम्यक्त्व का विकाश हो, मोह का क्षय हो मोक्ष का उदय हो।

श्रीमत् परम गंभीर, स्याद्वादमोघलाज्जनम् ॥

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य, शासनं जिन शासनम् ॥

माता जिनवाणी का एक क्षुद्र सेवक (उपाध्याय श्री कनक नन्दी)

वर्षायोग लावा (टोंक) राजस्थान

अनन्त चतुर्दशी 29 सितम्बर 1993

## अध्याय 1

# “संसार का मूल हेतु मिथ्यात्व है”

संसारमूलहेतुं मिच्छतं सब्धा विवज्जेहि ।  
बुधी गुणण्णिदं पि हु मिच्छतं मोहिदं कुणदि ॥(723)  
पृ.461, भ.आ.

मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है उसका मन, वचन, काय से त्याग करो, क्योंकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धि को भी मूढ़ बना देता है ।

केवल भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि (शिवार्थ) ने संसार का मूल हेतु मिथ्यात्व है नहीं कहा है अपरंच प्राचीन दिगम्बर प्रायः सब आचार्यों ने कहा है । इसके विपरीत सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग का प्रथम मूल हेतु कहा है । समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को धर्म कहा है । इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को अधर्म कहा है । और यह रलत्रयात्मक धर्म संसारी जीवों को संसार से निवृत्त करके शाश्वतिक सुख में धारण कराता है । इसके विपरीत मिथ्यादर्शन आदि अधर्म हैं, संसार की पद्धति है और जीवों को दुःख देने वाला है । आचार्य श्री ने रलत्रय में सम्यग्दर्शन को कर्णधार कहा है । सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए कहा है कि जैसे बीज के अभाव से वृक्ष की स्थिति, वृद्धि व फल आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, संपूर्ति नहीं हो सकती हैं । इसलिए तो आचार्यों ने कहा कि समयग्दृष्टि श्रावक मिथ्यादृष्टि साधु से श्रेष्ठ है । ऐसे सम्यग्दर्शन सहित जीव नारकी होते हुए भी मिथ्यादृष्टि देव से श्रेष्ठ हैं । ऐसे सम्यग्दर्शन से सहित चाण्डाल भी भस्म से

जादित अंगार के समान अंतरंग में प्रकाशमान है (आदरणीय) है । गादर्शन की महानता, पवित्रता, श्रेष्ठता, एवं मिथ्यादर्शन की निम्नता, हेयता का निकरते हुए आचार्य कुन्द कुन्द देवने दर्शनादिपाहुड़ में बहुत ही महत्व पूर्ण शासा डाला है । उनमें से कुछ गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स पिच्छियस्य य समवण्णा होइ चारितं ॥(4) पृ. 63

जो जानता है वह ज्ञान है और जो प्रतीति करता है वह दर्शन कहा गया है जन दोनों के संयोग से सम्यग्चारित्र होता है ।

णिसंसंक्यि णिकंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढिदिट्टी य ।

अवगृहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥(7) पृ.67

निःशंकित 1. निःकांक्षित 2. निर्विचिकित्सा 3. अमूढ-दृष्टि 4. उपगुहन 5. निकरण 6. वात्सल्य 7. और प्रभावना 8. ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं ।

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मतं सुमुक्खठाणाय ।

जं चरइ णाणजुतं पद्मं सम्मतचरणचारितं ॥(8)

निःशंकितादि गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन सम्यक्त्व कहलाता है जिन-सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की प्राप्ति के लिए निमित्त भूत जान सहित जिन-सम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वा-चरण नाम का चारित्र है ।

सम्मतरयणभट्टा जाणांता बहुविहाइ सत्थाइ ।

आराहणा विरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥(4) पृ.8 दर्शन

सम्मक्त्व रूपी रल से भ्रष्ट मनुष्य भले ही अनेक प्रकार के शास्त्रों को जाने हो तो भी जिन वचनों की श्रद्धा से रहित होने के कारण वहीं के वहीं जाति उसी चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं ।

सम्मत सलिल पवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स ।

कम्मं वालूयवरण बंधुच्चिय णासए तस्स ॥(7)

जिसके हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है तो कर्म रूपी बालू का बांध बद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है ।

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य ।  
एदे भट्ठा विभट्ठा सेसं वि जणं विणासंति ॥(8)

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं और चारित्र से भ्रष्ट हैं। सम्यक्त्व से ही चरित्र होता है। और 'चारित्र से' निवाण की प्राप्ति देते हैं।

जह मूलम्मि विणंडे दुमस्य परिवार णत्थि परिवइढी ।  
तह जिणदंसण भट्ठा मूल विणडा ण सिज्जांति ॥ (10)

जिस प्रकार जड़ के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के परिवार की वृद्धि नहीं [उसी प्रकार सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर चारित्र रूपी वृक्ष की वृद्धि नहीं जो मनुष्य जिन-दर्शन-अर्हन्त भगवान् के मत से भ्रष्ट हैं वे मूल विनष्ट हैं। जड़ रहित हैं-सम्यग्दर्शन से शून्य हैं और ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

जह मूलाओं खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई ।  
तह जिण दंसण मूलो णिद्विडो मोख्ख मग्गस्स ॥(11)

जिस तरह मूल अर्थात् जड़ से वृक्ष का स्कन्ध और शाखाओं का वृद्धि आदि अतिशय से युक्त होता है, उसी तरह जिन दर्शन-आर्हत मत जिनेन्द्र देव का प्रगाढ़ श्रद्धान मोक्षमार्ग का मूल कहा गया है। इससे जिसे ही मोक्ष मार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है।

सम्मतादो णाणं णाणादो सब्व भाव उवलद्वी ।  
उवलद्वपयथ्ये पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥(15)

सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है। और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने पर यह जीव कल्याण और अकल्याण का विशेष रूप से जानता है।

एवं जिणपण्णतं दसंण-रयणं धरेह भावेण ।  
सारं गुण रयणत्य सोवाण पठम मोख्खस्स ॥(21)

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन रूपी रूप भव्य जीवों ! भाव पूर्वक धारण करो। यह सम्यग्दर्शन रूपी रूप क्षमादिगुणों तथा सम्यग्दर्शनादि तीन रूपों में श्रेष्ठ है और मोक्ष की सीढ़ी है।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होई सम्मतं ।  
सम्मताओं चरणं चरणाओं होई णिव्वाणं ॥(31)

ज्ञान जीव के सारभूत है और ज्ञान की अपेक्षा सम्यक्त्व सारभूत है। सम्यक्त्व से ही चरित्र होता है। और 'चरित्र से' निवाण की प्राप्ति

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्ध सम्मतं ।  
सम्पदंसण रयणं अग्धेदि सुरासुरे लोए ॥(33)

भव्य जीव कल्याणों के समूहों के साथ निर्दोष सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं दानवों के भुवन में सम्यग्दर्शन रूप रूप सबके द्वारा पूजा जाता है।

तत्वार्थश्लोकवार्तिक-अलंकार में विद्यानंद स्वामी ने अष्टम अध्याय के श्लोक का व्याख्यान करते हुए कहा भी है कि—

"ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात् ।" (भाग 7 पृ.49)

उस वेदनीय के पश्चात् मोहनीय का कथन करना आवश्यक है, कारण उन ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख का विरोध करने वाला मोह है। क्वचित् मोहनीय करके मूठ हो रहा जीव न जानता है, न अवलोकन करता है।

उपरोक्त वर्णन से पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व को संसार मूल हेतु बताते हुए उन्होंने मिथ्यात्व को ही संसार का कारण नहीं बताया है परन्तु मिथ्यात्व को बताता अवश्य दी है। मिथ्यात्व के साथ-साथ अविरति, प्रमाद, कषाय, योग दि भी संसार के कारण हैं क्योंकि इससे कर्म के आस्त्र एवं बंध होते हैं।

इतना ही नहीं है किन्तु जीव के संख्यात, असंख्यात, जो वैभाविक न करके विशेष को गर्भित किया जाता है। कभी-कभी आवश्यकतानुसार ग्राह का कथन किया जाता है। संग्रह / संक्षिप्त रूप से विचार करने पर

वैभाविक भाव से / अशुद्धता से / कषाय से आस्त्र व बंध होता है एवं भाव से / शुद्धता से मोक्ष होता है। पंचाध्यायी में कहा भी है—

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमुच्चेति निर्णयः ।  
यस्माद्धन्य विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन । (131) पृ. 304

बन्ध का कारण अशुद्धता है, और बन्ध का कार्य भी है, क्योंकि बन्ध के बिना अशुद्धता कभी नहीं होती।

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात् ।  
हेतुरुपमशुद्धत्वं तनवाकर्षणात्वतः । (132)

बन्ध कार्य रूप भी है। क्योंकि कर्मों के विपाक होने से होता है अशुद्धता उसका कारण है। अशुद्धता के द्वारा ही नवीन नवीन कर्म खिचका आता है और फिर बन्ध को प्राप्त होता है।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावं शौदविको यतः ।  
पाकाच्चारित्रं मोहस्य दृढं मोहस्याथ नान्यथा ॥(883) पृ. 504

इन दोनों में से रागादिक का अर्थ कलुषता है। यह औदयिक भाव है क्योंकि यह चारित्र मोहनीय और दर्शन मोहनीय के उदय से होता है अन्य प्रकार से नहीं।

अन्य एक दृष्टि से देखने पर या विचार करने पर जैसे क्रोध, मान माया, लोभ आदि कथाय है उससे भी महाकथाय मिथ्यात्व है। भले विवक्षणः मिथ्यात्व को कथाय कहने की पद्धति पहले भी अधिक नहीं थी औ वशतः अभी भी नहीं है परन्तु कथाय की परिभाषा की दृष्टि से देखने पर मिथ्यात्व कथाय से भी अधिक कथाय है क्योंकि—“कषणादात्मनां घातात्कथाय कुगतिप्रदः ।” एवं “कथयन्ति हिंसति आत्मक्षेत्रमिति कथायाः ।”

जो ‘कथयन्ति’ आत्मा का घात करती है वे कथाय हैं। आत्मा का घात अर्थात् आत्मा की हिंसा है और आत्म की हिंसा वैभाविक भावों से होती है

पुरुषार्थ सिद्धि उपाय में कहा भी है—

“आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेवहिंसैतत् ।”

जिनसे आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है ये वे सर्व कार्य हिंसा हैं। जैसे चोरी, झुठ, परिग्रह, कुशील आदि विवक्षा वशतः शिष्यों समझाने के लिये अलग-अलग कहा गया है परन्तु वस्तुतः वे सब हिंसा ही वैसे ही क्रोधादि को कथाय कहा गया है परन्तु मिथ्यात्वादि सम्पूर्ण वैभाविक परिणाम आत्मा को घातने के कारण कथाय ही हैं। मानलो मिथ्यात्व

आगम में अधिक स्थल में स्पष्ट कथाय के रूप में अभिधेय नहीं किया गया है तथापि मिथ्यात्व से बंध नहीं होता है मिथ्यात्व अधिकरण रहता है, कथाय ही करण (कारण) बनता है यह स्पष्ट आगम विरुद्ध है। जिसका वर्णन पहले और बाद में भी मैंने अनेक आचार्यों के सिद्धांतों को देकर किया है। अन्तानुबंधी कथाय भी मिथ्यात्व के समान शक्तिशाली या अनंत संसार का करण नहीं हैं। मिथ्यात्व ही अनंत संसार का करण है इसलिये मिथ्यात्व को अनंत कहते हैं। और उस मिथ्यात्व के साथ बंध वाली या उसका अनुशरण करने वाली या मिथ्यात्व के साथ मिथ्यात्व को बांधने वाली अनंतानुबंधी है। राजवार्तिक में कहा है—

“अनन्तसंसार कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् तदनु-  
बन्धिनोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमाया लोभाः ।”

पंचाध्यायी में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव, बंध आदि दर्शन मोहनीय कर्म से होता है न कि चारित्र मोहनीय रूपी रागद्रेष से। यथा—

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।  
परो वा नाश्रयेद्वोषं गुणाश्चापि पराश्रितम् । (917) पृ. 514

क्योंकि दूसरे के आश्रय से होने वाला गुण दोष दूसरे के आश्रय से नहीं हो सकता है। इसी प्रकार दूसरा भी दूसरे के आश्रय से होने वाले गुण दोषों को अपने आश्रित नहीं बना सकता है।

जिस आश्रय से जो दोष अथवा गुण होता है वह दोष अथवा गुण उसी आश्रय से हो सकता है, अन्य किसी दूसरे आश्रय से नहीं हो सकता ऐसा सिद्धान्त स्थिर रहने पर भी जो पराश्रित गुण दोषों को अन्याश्रित बतलाते हैं वे वास्तव में बड़ी भूल करते हैं।

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।  
सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ञाने वाऽनुदयात्मके । (918)

चारित्र मोहनीय कर्मका पाक होने से राग होता है, राग आत्मा का औदयिक भाव है, अर्थात् कर्मों के उदय से होने वाला है। वह औदयिक भाव अनुदय स्वरूप सम्यक्त्व और ज्ञान में किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

राग आत्मा का निज परिणाम नहीं है किन्तु कर्मों के उदय से होनेवाली वैभाविक अवस्था है सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिये उनमें रागभाव हो रहा नहीं सकता है।

अनिधन्विह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः ।  
नूनं हनुं क्षमो न स्याज्ञानसंचेतनामिमाम् । (919)

बुद्धिपूर्वक राग सम्यक्त्व का घात नहीं कर सकता है। इसलिये वह सम्यक्त्व के साथ अविनाभावी ज्ञानचेतना(लब्धिरूप) का भी घात नियम से नहीं कर सकता है।

राग भाव आत्मा के चारित्र गुण का ही विधात करेगा। वह न तो सम्यक्त्व का ही विधात कर सकता है और न सम्यक्त्व के साथ अविनाभावपूर्वक रहने वाली ज्ञानचेतना का ही विधात कर सकता है। इन दोनों से राग का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये चौथे गुणस्थान में भी ज्ञान चेतना होती ही है उसका कोई बाधक नहीं है।

नायूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोपि या ।  
बन्धोत्कर्षेदयांशानां हेतुदग्मोहकर्मणः । (920)

राग की ऐसी भी शक्ति है जो दर्शन मोहनीय कर्म के बन्ध, उत्कर्ष और उदय में कारण है ऐसी भी तर्कणा न करो।

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृग्संभवः ।  
सत्यां प्रध्वंससामग्रयां कार्यध्वंसंस्य सम्भवात् । (921)

यदि राग भाव ही दर्शन मोहनीय के बन्ध उत्कर्ष और उदय में कारण हों तो सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। फिर तो सम्यग्दर्शन का होना ही असम्भव हो जायगा। क्योंकि नाश की सामग्री रहने पर कार्य का नाश होना अवश्यंभावी है।

पहले तो शंकाकारने सराग अवस्था में ज्ञानचेतना का निषेध किया था, परन्तु उसका उसे उत्तर दे दिया गया कि राग का और ज्ञान चेतना का कोई सम्बन्ध नहीं है पराश्रित दोष गुण अनयाश्रित नहीं हो सकते हैं। राग भाव चारित्र गुण का ही विधातक है। वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान का विधातक नहीं हो सकता है। फिर शंकाकारने दूसरी शंका उठाई है कि यद्यपि रागभाव सम्यग्दर्शन का

विधातक नहीं है, सम्यग्दर्शन का विधातक तो दर्शन मोहनीय कर्म है तथापि राग भाव उस दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध कराने में तथा उसके परमाणुओं को उदय में लाने में समर्थ है। आचार्य कहते हैं कि यदि रागभाव ही दर्शन मोहनीय का बन्ध तथा उदय कराने में समर्थ है तो आत्मा में सम्यक्त्व की कभी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है।

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसचारित्रावरणोदयात् ।  
रागेणैतावता तत्र दृढ़मोहेऽनधिकारिणा । (922)

चारित्रावरण कर्म के उदय से (रागभाव से) सम्यक्त्व का विधात नहीं हो सकता है। क्योंकि रागभाव का दर्शन मोहनीय कर्म के विषय में कोई अधिकार नहीं है।

यतश्चास्यागमात् सिद्धमेतददृढ़मोहकर्मणः ।  
नियतं स्वोदयाद्वन्धप्रभृति न परोदयात् । (923)

क्योंकि यह बात आगम से सिद्ध है कि दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध उत्कर्ष आदि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से ही नियम से होता है। किसी अन्य (चारित्र मोहनीय) के उदय से दर्शन मोहनीय का बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नहीं होता।

जिस कार्य का जो कारण नियत है उसी कारण से वह कार्य सिद्ध होता है, यदि कार्य कारण पद्धति को उठा दिया जाय तो किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके सिवा संकर आदि अनेक दूषण भी आते हैं। क्योंकि कारण भेद से ही कार्य भेद होता है। अन्यथा किसी भी पदार्थ की ठीक-ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती है। सिद्धान्तकारों ने पहले गुणस्थान में दर्शन मोहनीय का उदय कहा है वहीं पर उसका स्वोदयमें बन्ध भी होता है। यदि दर्शनमोहनीय का बन्ध अथवा उदय आदि किसी दूसरे कर्मों के उदय से भी होने लगे तब तो सदा पहला ही गुणस्थान रहेगा। अथवा गुणस्थानों की श्रृंखला ही टूट जाएगी। गुणस्थानों की अव्यवस्था होने पर संसार-मोक्ष अथवा शुद्ध-अशुद्ध भावों की व्यवस्था भी नहीं रह सकती है, इसलिये दर्शन मोहनीय के उदय होने पर ही उसका बन्ध उत्कर्ष मानना न्याय संगत है।

न चाविज्वल्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः  
दृमोहस्य कृते नालं अलं स्वस्थकृते च तत् ।  
(689) (पंचाध्यायी पृ. 444)

चारित्र मोहनीय का उदय कुछ करता ही ना हो ऐसा भी नहीं है । यद्यपि वह दर्शन मोहनीय के कार्य के लिए असमर्थ है तथापि अपने कार्य के लिए अवश्य समर्थ है ।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्रच्युतिरात्मनः ।  
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्यायादितरदृष्टिवत् । (690)

आत्मा के चारित्र गुण की क्षति करना ही चारित्रमोहनीय का कार्य है । चारित्रमोहनीय का कार्य आत्मा के दर्शनगुण की क्षति करना नहीं हो सकता है । क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण जुदा ही है इसलिये उसका घातक भी जुदा ही कर्म है । जिस प्रकार दूसरे के दर्शन में दूसरा बाधा नहीं पहुँचा सकता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनगुण में चरित्र मोहनीय बाधा नहीं पहुँचा सकता है उसका कार्य केवल चरित्र गुण को घात करने का है ।

यथाचक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिदैवयोगतः ।  
इतरत्राक्षतायेषि दृष्टाध्यक्षान्त तत्क्षतिः । (691)

जिस प्रकार किसी का चक्षु रोग रहित है और दैवयोग से दूसरे किसी के चक्षु में किसी प्रकार की पीड़ा है तो उस पीड़ा से निर्मल चक्षु वाले की कोई हानि नहीं हो सकती है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

राजवार्तिक में अकलंक देव स्वामी ने बंध प्रक्रिया का वर्णन भी निम्न प्रकार से किया है—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्धं हेतवः । (1)

राजवार्तिक भाग II पृ 434 अ.8

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये बन्ध के कारण हैं ।

समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वाक्यपरिसमाप्ते वैचित्र्यात् । (31)

मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् । कुतः? वाक्यपरिसमाप्ते वैचित्र्यात् । तत्रमिथ्यादृष्टे: पंचापि समुदिताः बन्धः हेतवा । सासादनसम्यग्दृष्टि- असंयतसम्यग्दृष्टिनामविरत्यादयश्चत्वारः । संयतासंयतस्या-

विरतिमिश्राः प्रमादकषाययोगाश्य । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः । अप्रमत्तादीनां चतुर्णा कषाययोगौ । उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिनाम् एक एव योगः । अयोग केवली अबन्धहेतुः । तत्र च मिथ्यादर्शनादिविकल्पानां प्रत्येकं बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम् । न हि सर्वाणि मिथ्यादर्शनानि एकस्मिन्नात्मनि युगपत् संभवन्ति, नापि हिंसादयः सर्वे परिणामाः ।

वाक्य की परिसमाप्ति की विचित्रता होने से समुदाय और अवयव दोनों ही बन्ध के कारण हैं । अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु होते हैं, ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि वाक्य की परिसमाप्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है । उनमें से मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांचों ही बन्ध के कारण हैं । सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व को छोड़कर अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये चार बन्ध के कारण हैं । संयतासंयत (पंचमगुणस्थान) के अविरतिमिश्र (विरताविरत) प्रमाद, कषाय, और योग ये चार बन्ध के हेतु हैं । प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थान) के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्ध के कारण हैं । अप्रमत्तादि चार (सप्तम, अष्टम, नवम और दशम) गुणस्थानों में कषाय और योग ये दो कारण हैं । उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली के केवल एक योग ही बन्ध का कारण है । अयोग केवली के बन्ध का हेतु नहीं हैं । इसी प्रकार मिथ्यादर्शन के पांचभेद, अविरति के 12 भेद आदि जितने भेद प्रभेद हैं, उन सभी भेदों को बंध का कारण समझना चाहिये, अर्थात् सभी बन्ध के हेतु होते हैं क्योंकि मिथ्यादर्शनादि के सभी भेद एक आत्मा में एक साथ नहीं हो सकते । अर्थात् पन्द्रह योगों में से एक समय में एक योग, पांच मिथ्यात्वों में से एक मिथ्यात्व, अविरति एक स्थान से 7 अविरति होती है इत्यादि । हिंसादि परिणाम भी एक साथ नहीं होते । एक आत्मा में एक साथ सर्व मिथ्यादर्शन और हिंसादि पांचों पाप एक साथ नहीं हो सकते ।

वैभाविक भाव में दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय आदि सम्पूर्ण वैभाविक भाव आ जाते हैं । तत्त्वार्थ-श्लोक वार्तिक अलंकार में विद्यानंदी स्वामी ने कहा—

मिथ्यादर्शनविरतिप्रमादकषाय योग बंधहेतवः (भा.7पृ.2 सूत्र 1)  
अविरतिकषाययोगा द्वादशपञ्चविशतित्रयोदशभेदाः, प्रमादोनेकविधिः ।  
समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वचित्र्यात् ।

अविरति के भेद बारह हैं कषाय पञ्चीस प्रकार की हैं योगों के तेरह भेद हैं। मिथ्यादर्शन आदि पांचों के समुदाय को समस्त रूप से और पांचों के एक, दो, तीन, चार अवयवों को व्यस्तरूप से बंध का हेतुपना है। अर्थात् पहिले गुणस्थानवर्तीं जीव में बंध के कारण पांचों विद्यमान हैं, यहाँ मिथ्यादर्शन की व्युच्छिति हो जाती है। अतः दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानों में जीवों के अविरति, प्रमाद, कषाय योग ये चार बंध के कारण हैं। पांचवें गुणस्थान में स्थावरों की अविरति से मिले हुये प्रमाद, कषाय, और योग ये श्रावक, श्राविकाओं के बंध उपयोगी साढ़े तीन कारण हैं। छठे में प्रमाद, कषाय योगों को निमित्त पाकर मुनियों के कर्म बन्ध होता है, यह बंध के कारण प्रमाद की व्युच्छिति हो जाती है। सातवें, आठवें, नौ में, दश में गुणस्थानों में योग और कषाय दो बंध के कारण हैं। उपशांतकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलियों के योग ही एक बंध का कारण रह जाता है, जो कि एक समय ठहरकर दूसरे समय में निर्जरा हो जाने वाले सातावेदनीय कर्म का मात्र बंधक है, नोकर्म वर्गणायें भी योग से आती हैं, चौदहवें गुणस्थान में कोई आस्तव या बंध नहीं हैं। यों आर्ष आम्नाय अनुसार वाक्यों की परिसमाप्ति के अनुरोध से सूत्र का उक्त अर्थ निकालना पड़ता है। मिथ्यादर्शन आदि के क्रियावादी, एकांत मिथ्यादर्शन, पृथिवी कायिक अविरति, विकथा भावाशुद्धि, अनुत्साह, अनन्तानुबंधी क्रोध, सत्यमनोयोग आदि भेद प्रभेदों की अपेक्षा विचार करने पर तो प्रत्येक को या असमग्र को बंध का हेतुपना समझा जाय। कारण कि सभी मिथ्यादर्शन एक समय में एक आत्मा के साथ नहीं सम्भवते हैं। इसी प्रकार अविरति, प्रमाद, कषाय, योगों के भेद प्रभेद भी सभी युगपत् नहीं सम्भवते हैं। पञ्चीस कषायों में से एक समय में अधिक से अधिक अनन्तानुबन्धी क्रोध 1, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध 2, प्रत्याख्यानावरण 3 क्रोध, संज्वलन क्रोध 4 तथा हास्य 5 रति 6 इन चार में दो एवं भय जुगुप्सा और स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेदों में से एक वेद 9 नौ कषायें उदय रूप हैं।

अविरतेः प्रमादस्याविशेष इति चेन विरतस्यापि प्रमाद दर्शनात् । इति चेन,  
कार्य कारण भेदोपपत्तेः ।

यहाँ कोई शंका उठती है कि अविरति से प्रमाद का कोई अन्तर नहीं है ? अतः दोनों में से एक का प्रहण करना समुचित है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहता क्योंकि विरति हो रहे मुनि के भी विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और

स्नेह स्वरूप प्रमाद हो सकते हैं। पुनः कोई आक्षेप करता है कि कषायों और अविरतियों में कोई भेद नहीं दिखता है, दोनों ही हिंसादि परिणामों स्वरूप हैं, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि कार्य और कारण के भेद से इनके पृथक् निरूपण की सिद्धि हो रही है। क्रोधादि कषायें कारण स्वरूप हैं और हिंसादि की अविरतियाँ कार्य हैं। अतः इनका भी न्याया निरूपण करना उचित है। कोई-कोई विद्वान् प्रमाद पद से उन्हीं विकथा आदि प्रमादों को पकड़ते हैं जो कि छठे गुणस्थान में ही पाये जाते हैं, शेष रहे तीव्र प्रमादों को मिथ्यादर्शन और अविरति की मुख्यता से गिन लिया जाता है, इसी प्रकार कषाय पद से सातवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक सम्भव रहीं कषायें ही ली जाये अन्य अनन्तानुबन्धी आदि कषायों को पहिले कारणों में गतार्थ कर लिया जाय “तच्चन्त्यं”।

कृतः पुनर्मिथ्यादर्शनादयः पञ्चबंध हेतव इत्याह—

यहाँ कोई तार्किक पण्डित प्रश्न करता है कि मिथ्या दर्शन आदि पाँचों के बंध का कारण किस युक्ति से समझ लिया जाय? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कहते हैं।

स्यर्बध हेतवः पूंसः स्वमिथ्यादर्शनादयः ।

तस्य तदभाव भावित्वादन्यथा तदसिद्धितः (2)

जीव के अपने मिथ्यादर्शन, अविरति आदि पांच (पक्ष) बंध के कारण हो सकते हैं (साध्यदल) उस बन्ध का उन मिथ्या दर्शन आदि के सद्भाव होने पर हो जाना स्वरूप अन्वय होने से (हेतु) अन्य प्रकारों से उस बंध के होने के असिद्धि है (व्यतिरेकव्याप्ति) इस अनुमान द्वारा सूत्रोक्त बंध कारण सिद्धांत के युक्ति से साध दिया गया है। पूर्वाचार्यों ने मिथ्यात्व आदि को कुछ स्थान पर आस्त्रव कहा है और कुछ स्थान पर मन, वचन, काय के परिस्पन्दन को भी आस्त्रव कहा है। यथा—

ણાણાવરણાદીણ જોગં જં પુગલં સમાસવદિ ।  
દવ્યાસઓ સ નેયો અણેય ભેયો જિણક્ખાડો । (31) (દ્ર. સં.)

कायवाद्मनः कर्मयोगः (1)  
स आस्त्रवः (2) (त.स.)

क्या उपरोक्त सूत्र में कोई विरोध है? विवक्षावशतः उपर्युक्त कथन है इसलिए कोई विरोध नहीं है। श्लोक-वार्तिक में स्वयं आचार्य श्री ने शंका प्रस्तुत करके उसका समाधान निम्न प्रकार से किया है— (भा VI पृ. 438 में से)—

कुतः पुनर्यथोक्तलक्षणो योग एवास्त्रवः सूत्रितो न तु मिथ्यादर्शनादयोऽपीत्याह ।

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की आम्नाय अनुसार सूत्रकार ने जिस योग का लक्षण प्रथम सूत्र में कहा है केवल उस एक योग ही द्वितीय सूत्र करके श्री उमास्वामी महाराज ने क्यों आस्त्रव कह दिया है? मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, आदि को भी आस्त्रव कहना चाहिये था जब कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पांचों को बन्ध का हेतु माना गया है। बन्ध के सभी हेतुओं को आस्त्रव कहना चाहिये। किन्तु मिथ्यादर्शन आदि को आस्त्रव नहीं कह कर केवल योग को ही आस्त्रव मानना उचित नहीं दिखता है। इस प्रकार प्रश्न प्रवतनेपर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहते हैं उसको सुनिये ।

स आस्त्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणम् ।  
पुंसोऽत्रानुप्रवेशेन मिथ्यात्वादेरशेषतः (1)

आत्मा के निकट कर्मों के आगमन का कारण वह आत्मा प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योग ही यहाँ प्रकरण में आस्त्रव अच्छा कहा गया है। मिथ्यात्व, अविरति, आदि बन्ध हेतुओं का सम्पूर्ण रूप से इस योग में अनुप्रवेश हो जाता है इस कारण मिथ्यात्व आदि को कण्ठ से नहीं कहा है। अर्थात्—कर्म नोकर्मों के आगमन का कारण वस्तुतः योग ही है। आत्मा के मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, ये परिणाम तो उस योग में ही विशिष्टता को उपजा देते हैं, आत्मा के योग को जब मिथ्यादर्शन का प्रसंग मिल जाता है तो यह आत्मा “मिच्छत् हुण्ड संदाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं । सुहमतियं वियलिंदीणिरय-दुणिरयाउगं मिच्छे” इन सोलह प्रकृतियों का बंध कर लेता है अन्यथा नहीं। असम्भव पदार्थ की भी कल्पनावश सम्भावना करने वाला कवि कह सकता है कि आत्मा में यदि योग नहीं होता और मिथ्यादर्शन, अविरति, बने भी रहते तो भी आत्मा में अणुमात्र का बंध नहीं हो सकता था अतः प्रधान शक्तिशाली योग

को आस्त्रव कह देने से ही मिथ्यादर्शन आदि उस योग में ही अन्तर्भूत हो रहे समझ लिये जाते हैं ।

मिथ्यादर्शनं हि ज्ञानावरणादिकर्मणामागमनकारणं मिथ्यादृष्टेरेव न पुनः सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां । अविरतिरप्यसंयतस्यैव कात्यैनैकदेशेन वा । न पुनः संयतस्य, प्रमोदोऽपि प्रमत्तपर्यतस्यैव नाप्रमत्तादेः, कषायश्च सकषायस्यैव न शेषस्योपशांतं कषायादेः; योगः पुनरशेषतः सयोगकेवल्यंतस्य तत्कारणमिति स एवास्त्रव प्रोक्तोऽत्रशास्त्रे संक्षेपादशेषास्त्रवप्रतिपत्यर्थमिथ्यादर्शनादेरत्रैव योगेऽनुप्रवेशात् तस्यैव मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितस्य केवलस्य च कर्मागमनकारण त्व-सिद्धेः ।

देखिये आत्मा का मिथ्यादर्शन परिणाम विचारा मिथ्यादृष्टि जीव के ही ज्ञानावरण, मिथ्यात्व प्रकृति, आदि कर्मों के आगमन का कारण है किन्तु फिर द्वितीय गुणस्थानवर्ती सासादन से सम्यग्दृष्टि या तृतीय गुणस्थान वर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदिक जीवों के ज्ञानावरण आदि का आस्त्रवण हेतु वह मिथ्यादर्शन नहीं है अतः मिथ्यात्व को कर्म आगमन का हेतु कह देने से अव्याप्ति दोष आ जायेगा। इसी प्रकार बंध का हेतु मानी गयी अविरति भी संयम रहित जीवों के ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आस्त्रव हेतु है किन्तु फिर पूर्ण रूप से संयमी हो रहे छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के अथवा एक देश करके देशसंयमी हो रहे श्रावक के ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन का कारण वह अविरति कथमपि नहीं है। प्रमाद भी मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर छठे गुणस्थान वर्ती प्रमत्त मुनियों पर्यन्त ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आगमन करता है किन्तु अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि संयमियों के निकट कर्मों का आगमन हेतु प्रमाद नहीं है। तथा कषाय भी दशवें गुणस्थान तक कषाय वाले जीवों के ही कर्म बंध का हेतु हो सकेगी। शेष बच रहे ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्ती उपशान्त कषाय, क्षीणकाषाय और सयोग केवली जीवों के कर्म आगमन का हेतु कषाय नहीं है। हाँ, योग तो फिर मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर संयोग केवली पर्यन्त अशेषरूप से जीवों के उस कर्म, नो कर्मों के आगमन का कारण है इस कारण इस तत्वार्थ शास्त्र ग्रन्थ में सूत्रकार करके वह योग ही आस्त्रवों बहुत अच्छा कहा जा चुका है चूंकि संक्षेप से सम्पूर्ण आस्त्रवों की प्रतिपत्ति हो जाना इसका प्रयोजन है। पृष्ठ लग्न मिथ्यादर्शन, अविरति आदि का इस योग में ही प्रवेश हो जाता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति आदि करके पीछे रंगे जा चुके केवल योग को ही कर्मों के आगमन का कारणपना सिद्ध है पीले लाल या हरे रंग से रंगा हुआ वस्त्र जैसे वस्त्र ही कहा

जाता है उसी प्रकार अनादिकाल से धड़ाधड कर्म नोकर्मों को खींच रहा योग भी पुनः मध्य-मध्य में यथायोग्य मिथ्या दर्शन आदि भावों से रंगा जा रहा सन्ता भिन्न प्रकार के कर्मों का आगमन हेतु बन रहा है अतः योग को ही आस्वव कह रहे सूत्रकार के पूर्ववर्ती वचन का "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतवः ॥" इस उत्तरवर्ती वचन के साथ कोई पूर्वपर विरोध दोष नहीं आता है । अतएव जो शास्त्रों में कहा गया है—रागी कर्म को बांधता है वीतरागी कर्म से मुक्त हो जाता है यह संग्रह-नय से अनेकान्त की दृष्टि से संक्षिप्त वर्णन है । अथवा साम्परायिक आस्वव के लिये कषाय अंतिम कारण है जैसा कि विद्यानदी स्वामि ने तत्वार्थ श्लोक वार्तिक में कहा है । यदि केवल कषाय से ही आस्वव बंध होता है अथवा स्थिति, अनुभाग पड़ता है तब सिद्धांत शास्त्र में जो सिद्धांत कहे गये हैं वे सिद्धांत निरर्थक हो जायेगे । आगम में कहा है—

मिच्छत्-णवुंसयवेद-णिरयाउ-णिरयगइ-एइंदिय-बेइंदिय-तीइंदिय-चउर्दिय-  
जादि-हुण्डसंठाण-असंपत्तसेवट्ठसरीसंघडणणिरयगइपाओगगाणुपुव्य-आदाव-  
थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणसरीरणमाणं को बधे को अबंधो ? (15)

ध्वला (पुस्तक 8 पृ. 42 सूत्र 15)

मिथ्यात्, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,  
चतुरन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी,  
आताप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण शरीर नामकर्म का कौन बन्धक है  
और कौन अबन्धक है ?

यह पृच्छासूत्र देशामर्शक है, इसलिये यहां पूर्वोक्त सब प्रश्नों को करना  
चाहिये । पूछने वाले शिष्य का संशय नष्ट करने के लिये उत्तर सूत्र कहते हैं—

मिच्छाइट्ठी बंधा । एदे बन्धा, अवसेसा अबन्धा (16)

(पुस्तक 8 पृ. 43 सूत्र 16)

मिथ्यादृष्टि जीव बन्धक है । ये बन्धक हैं शेष जीव अबन्धक हैं ।

मिच्छत्स्स बंधोदया समं वोच्छिज्जंति, मिच्छाइट्ठ-चरिमसमए  
बंधोदयवोच्छेद दंसणादो ।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में इसके बन्ध और उदय का  
व्युच्छेद देखा जाता है ।

मिच्छाइट्ठमि बन्धोदयवोच्छेदं पठि एदासि मिच्छतेण सह भेदाभावादो ।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होने वाले बन्धोदय व्युच्छेद के प्रति इनका  
मिथ्यात् के साथ कोई भेद नहीं है ।

मिच्छत्स्स सोदणेव बन्धो ।

मिथ्यात् का स्वोदय से ही बन्ध होता है ।

मिच्छतं णिरयाउअं च णिरतरबंधिणो, धुवबंधितादो अद्वाक्खण  
बंधविणासाभावादो ।

मिथ्यात् और नारकायु प्रकृतियां निरन्तर बंधने वाली हैं, क्योंकि धुव  
बन्धी होने से कालक्षय से इनके बन्ध विनाश का अभाव है ।

चतुहि मूलपच्चएहि पंचवंचासणाणासमयउत्तरपच्चएहि दस अट्ठारसएग-  
समयजहण्णुकस्स पच्चएहि य मिच्छाइट्ठी एदाओ पयडीओ बंधइ ।

चार मूल प्रत्ययों से, पचवन नाना समय सम्बन्धी उत्तर प्रत्ययों से, तथा  
दश व अठारह एक समय सम्बन्धी जघन्य एवं उत्कृष्ट प्रत्ययों से मिथ्यादृष्टि इन  
प्रकृतियों को बांधता है ।

सोलसकमाणि मिच्छतपच्चयाणि, मिच्छतोदसएण विणा एदेसि  
बंधाभावादो । पणुवीसकमाणि अणंताणुबंधिपच्चयाणि, तदुदएण विणा तेसि  
बंधाणुवलंभादो । दस कमाणि असंजमपच्चयाणि, अपच्चक्खाणावरणोदएण विणा  
तेसि बंधाभावादो । पच्चक्खाणावरणचतुकं सगसामण्णोदयपच्चयं, तेण विणा  
तब्बंधाणुवलंभादो । छकमाणि पमादपच्चयाणि, पमादेण विणा तेसि  
बंधाणुवलंभादो । (ध. 8 पृ. 76 सू. 39)

सोलह कर्म मिथ्यात् निमित्तक हैं क्योंकि, मिथ्यात् के उदय के बिना  
इनके बन्ध का अभाव है । पच्चीस कर्म अनन्तानुबन्धि निमित्तक हैं, क्योंकि,  
अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय बिना उनका बन्ध नहीं पाया जाता । दश कर्म  
असंयमनिमित्तक हैं, क्योंकि, अप्रख्यारत्यानावरण उदय बिना उनका बंध नहीं ।  
प्रत्याख्यानावरण चतुष्क अपने ही सामान्य उदय निमित्तक है, उसके बिना  
प्रत्याख्यानावरण- चतुष्क का बन्ध पाया नहीं जाता । छह कर्म प्रमाद निमित्तक हैं,  
क्योंकि, प्रमाद के बिना उनका बन्ध नहीं पाया जाता ।

उपरोक्त आगम सिद्धान्त के प्रकाश में अकिञ्चित्कर (विद्यासागर) का निमोक्त सिद्धान्त को अवलोकन करें— पृ. (61)

इस प्रकरण को सहज बनाने के लिए उदाहरण से समझाने की कोशिश करते हैं-जैसे, बिजली की उत्पत्ति के लिए पंखे पर काफी वेग के साथ जल गिराया जाता है, जिससे पंखे में गति आ जाने से विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह कार्मण वर्गणाओं के आगमन का निमित्त लेकर जीव के मन-वचन-काय के द्वारा आत्मप्रदेशों में गति-परिस्पन्दन पैदा होता है। यानि जल कर्म वर्गणाएं हुई, आत्मा के प्रदेश पंखा गति को योग व उत्पन्न होने वाली ऊर्जा (विद्युत्) को कषाय समझे। अब जरा ध्यान से देखा जाए कि यदि उस जल प्रवाह में से सूर्य की किरणें निकलती हैं तो आकाश में सप्तरंगी इन्द्रधनुष की रचना होती है। यह रचना न तो जल को स्पन्दित करती है और ना ही पंखे के घूमने में इसका कोई हाथ है। यह रचना वहाँ सद्भाव को प्राप्त मात्र प्रकाश का ही परिणाम है। इसी तरह हम देखें तो ज्ञात होगा कि सप्तरंगी इन्द्रधनुषी रचना के समान ही मिथ्यात्व भी जीव की भावात्मक दशा है। मिथ्यात्व के उदय में आत्मा में विपरीत श्रद्धान् रूप परिणाम होता है उससे किसी भी प्रकार की क्रियात्मकता नहीं आती। क्रियात्मकता यदि पैदा होती है तो वह योग और कषाय से ही। तथा सक्रियता से ही बन्ध हुआ करता है। अतः मिथ्यात्व आस्त्रव और बन्ध नहीं करता।

उपरोक्त कपोल कल्पित निजमत का निरसन मैं अपने शब्दों में न करके जैन कर्म सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त शास्त्र कसाय पाहुड (जय धवला) में से निम्न प्रकार कर रहा हूँ—

संपहि दंसणमोहणीयमुवसामेमाणस्स तदवत्थाए किंच्चण  
णाणावरणादिकम्बन्धो होदिति एवंविहस्स अत्यविसेसस्स  
णिद्धारणटुमुवरिमगाहासुतमोइण्ण—(क.पा. भाग 12 पृ.310 पै. 200)

अब दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाले जीव के उस अवस्था में ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध किनिमित्तक होता है इस प्रकार इस अर्थ विशेष का निर्धारण करने के लिए आगे का गाथा सूत्र आया है—

मिच्छतपच्चयो खलु बन्धो उवसामगस्स बोद्धव्वो ।

उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो । (101)

(क. पा. भाग 2 पृ. 311 गा. 101)

दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाले जीव के नियम से मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध जानना चाहिए। किन्तु उसके उपशान्त रहते हुए मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं होता तथा उपशान्त अवस्था के समाप्त होने के बाद मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है।

मिच्छतं पच्चओ कारणं जस्स सो मिच्छतपच्चओ खलु परिष्फुडं बन्धो दंसणमोहेवसामगस्स जाव पढमट्टिदिचरिमसमयो ति ताव बोद्धव्वो । केसिं कम्माणं बन्धो ? मिच्छतस्स णाणावरणादिसेसकम्माणं च । जइ वि एत्य सेसाणं असंजम-कसाय-जोगाणं पच्चयत्तमत्थि तो वि मिच्छतस्सेव पहाणभावविवक्खाएं एव परुविदमिदि धेतव्यं, उवरि मिच्छतपच्चयस्साभावपदुप्पायणपरतादो । 'उवसंते आसाणे' दंसणमोहणीए उवसंते अन्तरं पविट्टपढमसमयप्पहुडि मिच्छत पच्चयस्स आसाणमेव विणासो चेव, ण तत्य मिच्छतपच्चओ अत्थि ति वुतं होइ । अधवा 'उवसंते' उवसंतदंसणमोहणीये सम्माइट्टिमि आसाणे सासण सम्माइट्टिमि मिच्छत, पच्चओ णत्थि ति वक्कसेसं काढूण सुत्तथो समत्येयव्वो । 'तेण परं होइ भजियव्वो' तत्तो परमुवसंतद्वाएणिट्टिदाए मिच्छत-पच्चओ भजियव्वो । किं कारण ? उवसम सम्मतद्वाए खीणाए तिण्हमण्णदरस्स कम्मस्स उदयसंभवे सिया मिच्छतपच्चओ, सिया अण्णपच्चओ ति तत्य भयणिङ्गते विरोहाणुवलंभादो । (जय धवला 12 पृ. 311 पै. 201)

मिथ्यात्व है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका वह मिथ्यात्व प्रत्यय बन्ध 'खलु' अर्थात् स्पष्ट रूप से दर्शन मोह का उपशम करने वाले जीव के प्रथम विशेष के अन्तिम समय तक जानना चाहिए।

शंका—किन कर्मों का बन्ध ?

समाधान—मिथ्यात्व और ज्ञानावरणादि शेष कर्मों का ।

यद्यपि यहाँ पर (मिथ्यात्व गुणस्थान में) शेष असंयम, कषाय और योग का प्रत्ययपना है तो भी मिथ्यात्व की ही प्रधानता की विवक्षा में इस प्रकार कहा गया है। ऐसा यहाँ पर ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध के अभाव का कथन परक यह वचन है। 'उवसंते आसाणे' दर्शन मोहनीय के उपशान्त होने पर अन्तरायाम में प्रवेश करने के प्रथम समय से लेकर

मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध का आसान अर्थात् विनाश ही है। यहाँ मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं है यह उक्त कथन का तात्पर्य है। अथवा 'उवसंते' दर्शन मोहनीय के उपशान्त होने पर सम्यग्दृष्टि जीव के और 'आसाणे' अर्थात् सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के 'मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं होता' इतना वाक्य शेष का योग करके सूत्रार्थका समर्थन करना चाहिए। 'तेण परं होइ भजियत्वो' अर्थात् उसके बाद उपशम सम्यक्त्व के काल के समाप्त होने पर मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध भजनीय है; क्योंकि उपशम सम्यक्त्व काल के क्षीण होने पर दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियों में से किसी एक कर्म का उदय सम्भव होने पर कदाचित् मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होता है, कदाचित् अन्यनिमित्तक बन्ध होता है, इसलिये उस अवस्था में भजनीय होने में विरोध नहीं उपलब्ध होता।

कर्मबन्ध के कारण चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योग। तत्त्वार्थ सूत्र आदि में बन्ध के प्रमाद सहित पांच कारण बतलाये हैं। किन्तु यहाँ पर टीका में प्रमाद का कषाय में अन्तर्भव करके चार कारण परिगणित किये गये हैं। इनमें से पूर्व-पूर्व के कारण के रहने पर आगे-आगे के कारण होते ही हैं। जैसे मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होने पर वह अविरति, कषाय और योगनिमित्तक भी होता है ऐसा यहाँ जाना चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध होता है, आगे गुणस्थानों में नहीं। इसी प्रकार पांचवें गुणस्थान तक अविरति निमित्तक बन्ध होने पर वहाँ कषाय और योग की निमित्तता है ही ऐसा समझना चाहिए। आगे के गुणस्थानों में अविरतिनिमित्तक बन्ध का अभाव है तथा दसवें गुणस्थान तक कषाय निमित्तक बन्ध होने पर वहाँ पर योग की निमित्तता है ही, क्योंकि इससे आगे के गुणस्थानों में कषाय निमित्तक बन्ध का अभाव है। आगे तेरहवें गुण-स्थान तक एक मात्र योग निमित्तक बन्ध होता है। वहाँ बन्ध के अन्य कारणों का अभाव है। इस प्रकार कर्म बन्ध के कहाँ कितने कारण हैं इसे समझकर मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध की मुख्यता है यह बतलाने के लिये उक्त गाथा सूत्र की रचना हुई है। वहाँ मिथ्यात्व और ज्ञानावरणादि जितने कर्मों का बंध होता है वह गाथा सूत्र में मिथ्यात्व निमित्तक इसी अभिप्राय से कहा है। इससे आगे के गुण स्थानों में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता यह बतलाने के लिए गाथा सूत्र में 'उवसंते आसाणे' इस तृतीय चरण

की रचना हुई है। इसके दो अर्थ हैं, जिनका स्पष्टीकरण टीका में किया ही है। तथा उपशान्त अवस्था के समाप्त होने के बाद इस जीव के दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों में से जिस प्रकृति का उदय होता है उसके अनुसार वहाँ यथा सम्भव बन्धकारण की मुख्यता होती है। यदि वह जीव मिथ्यात्व के उदय के साथ मिथ्यादृष्टि हो जाता है तो मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध की मुख्यता रहती है और यदि सम्यग्मिथ्यात्व के उदय के साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि या सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के साथ वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो अविरतिनिमित्तक बन्ध की मुख्यता रहती है। यही कारण है कि उक्त गाथासूत्र के चौथे चरण में उपशान्त अवस्था के समाप्त होने के बाद मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध को भजनीय कहा है। यहाँ इतना विशेष जाना चाहिए कि वेदक सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान तक होता है, अतः जहाँ जिस कारण की मुख्यता बने उसके अनुसार वहाँ उसकी मुख्यता से बन्ध समझना चाहिए। यथा-चौथे पांचवें गुणस्थान में अविरति की मुख्यता से बंध होता है तथा छठे-सातवें गुणस्थान में अविरति का अभाव होकर कषाय की मुख्यता से बन्ध होता है।

एवमुवसामगस्स पच्चयपरुवणं काठूण संपहि मिच्छतपच्चएणेव दंसण-मोहनीयस्स बंधो होई, तेण विणा सेसपच्चएहिं तब्बंधो णत्थि त्ति जाणावणट्टमुत्तरगाहा सुतावयारो—

इस प्रकार उपशामक के बन्ध के कारण का कथन करके अब दर्शन मोहनीय का बन्ध मिथ्यात्व के निमित्त से ही होता है उसके बिना शेष कारणों से दर्शन मोहनीय का बन्ध नहीं होता इस बात का ज्ञान कराने के लिये आगे के गाथा सूत्र का अवतार हुआ है—

सम्मामिच्छाइट्टी दंसण मोहसऽबंधगो होई ।  
वेदयसम्माइट्टी खीणो वि अबंधगो होई ॥

(क.पा. 12 पृ. 313 गा. 102)

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीय का अबन्धक होता है। तथा वेदक सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा 'अपि' शब्द द्वारा परिगृहीत उपशम सम्यग्दृष्टि और सासदन सम्यग्दृष्टि जीव भी दर्शन मोहनीय का अबन्धक होता है।

मिच्छाइट्टी चेव दंसणमोहणीयस्स मिच्छतपच्चएण बंधगो होइ, णाण्णो ।  
 तेण सम्मामिच्छाइट्टी वा वेदयसम्माइट्टी वा खइयसम्माइट्टी वा, अविसदेण  
 उवसपसम्माइट्टी वा सासणसम्माइट्टी वा णियमा दंसण मोहस्स अबंधगो होदि ति  
 एसो एत्थ सुत्तथ समुच्चयो धेतत्वो । अथवा जहा मिच्छाइट्टी मिच्छतोदएण  
 मिच्छतस्सेव बंधगोहोदि ति भणिदो । किमेवं सम्मामिच्छाइट्टी वेदग सम्माइट्टी च  
 सम्मामिच्छत-वेदग-सम्मताणमुदएण ताणि चेव सम्पत्त-सम्मामिच्छताणि जहारिं  
 बंधइ आहो ण बंधदि ति भणिदे ताणि ण बंधदि ति जाणावणडुमेदं  
 गाहासुतमवइण्णमिदि वक्खाणेयव्वं, सम्मामिच्छाइट्टी-वेदग सम्माइट्टीसु दंसण  
 मोहणीयबंधाभावस्समुक्तकंठमिहोवइट्टात्तादो । णवरि 'खीणो वि अबंधगो होदि'  
 ति एदं पदं खइयसम्माइट्टीमि दंसणमोहणीय बंधा-भावपदुप्पायण फलमणुत  
 सिद्ध पि मंद बुद्धि सिस्स-जणागुगहणडु मुवइट्ठमिदि गहेयव्वं । (क.पा.भाग 12  
 पृ. 313 पै. 203)

मिथ्यादृष्टि जीव ही दर्शन मोहनीय का मिथ्यात्व के निमित्त से बन्धक  
 होता है अन्य नहीं । इससे सम्यग्मिथ्यादृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक  
 सम्यग्दृष्टि तथा 'अपि' शब्द से उपशम सम्यग्दृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि  
 दर्शन मोह का नियम से अबन्धक होता है इस प्रकार यह सूत्रार्थ का समुच्चय  
 ग्रहण करना चाहिए । अथवा जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के उदय से  
 मिथ्यात्व का ही बन्धक होता है ऐसा कहा है उसी प्रकार क्या सम्यग्मिथ्यादृष्टि  
 और वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व और वेदक सम्यकत्व के उदय से  
 उन्हीं सम्यकत्व और सम्यग्मिथ्यात्व को यथा योग्य बांधता है या नहीं बांधता  
 ऐसा प्रश्न करने पर, नहीं बांधता इस बात का ज्ञान कराने के लिये यह गाथासूत्र  
 अवतीर्ण हुआ है ऐसा व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और  
 वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों में दर्शन मोहनीय के बन्ध के अभाव का मुक्तकण्ठ  
 होकर इस गाथासूत्र में उपदेश दिया गया है । इतनी विशेषता है कि 'खीणो वि  
 अबंधगो होदि' इस प्रकार इस पद का प्रयोजन क्षायिक सम्यग्दृष्टि के दर्शन  
 मोहनीय के बन्ध के अभाव का कथन करना है जो अनुकृत सिद्ध है, फिर भी  
 मंद बुद्धि शिष्यजनों का अनुग्रह करने के लिये इसका उपदेश दिया है ऐसा  
 ग्रहण करना चाहिए ।

उक्त गाथा सूत्र में किन जीवों के दर्शन मोहनीय का बन्ध नहीं होता  
 इसका निर्देश करते हुए बतलाया है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि वेदक सम्यग्दृष्टि और  
 क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दर्शन मोहनीय का बन्ध नहीं करता । तथा गाथा सूत्र में  
 आये हुए 'अपि' शब्द द्वारा यह भी सूचित किया है कि उपशम सम्यग्दृष्टि और  
 सासादन सम्यग्दृष्टि भी दर्शन मोहनीय का बन्ध नहीं करता । टीका में इस सूत्र  
 की रचना का एक प्रयोजन यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार मिथ्यात्वके उदय  
 से मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का बन्धक होता है उसी प्रकार क्या सम्यग्मिथ्यात्व  
 के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व का और वेदक सम्यकत्व के  
 उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यकत्व का बन्धक होता है या नहीं होता  
 ऐसा प्रश्न होने पर उक्त गाथासूत्र इसका निषेध करने के लिये आया है । तात्पर्य  
 यह है उपशम सम्यकत्व के काल में ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यकत्व की  
 संक्रमद्वारा सत्ता प्राप्त होती है, अन्य भाव के काल में नहीं । अब यदि कोई यह  
 प्रश्न करे कि जिस प्रकार मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का  
 बन्धक होता है उस प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव  
 सम्यग्मिथ्यात्व का या सम्यकत्व के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यकत्व का  
 संक्रामक (कर्म बन्धक) होता है क्या ? तो इस प्रश्न का समाधान करने के लिये  
 उक्त गाथासूत्र में यह कहा गया है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन मोह रूप  
 सम्यग्मिथ्यात्व का अबन्धक है । क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उक्त तीनों प्रकतियों  
 का क्षय कर चुका है, इसलिए वह इनका अबन्धक होता ही है । फिर भी  
 मन्दबुद्धि शिष्यों को ज्ञान कराने के लिये गाथासूत्र में इस विषयका अलग से  
 विधान किया है ।

पुञ्चवरुविदपा बहुआदो । सव्वोवसमेणे ति बुते सव्वेसि दंसण  
 मोहणीयकम्माणमुवसमेणेति धेतत्वं, मिच्छत-सम्पत्त-सम्मामिच्छताणं तिणं पि  
 कम्माणं पयडि-ट्टिदि-अणुभाग- पदेस विहत्ताणमेत्युवसंत भावेणावडादंसणादो ततो  
 परमुदयो खलु' ततः परं दर्शन भोह भेदानां त्रयाणां कर्मणामन्यतमस्यनियमेनोदय  
 परि प्राप्तिरित्युक्तं भवति । तदो उवसंतद्वाए खीणाए तिणं कम्माण मण्णदरं जं  
 वेदेदि तमोकड्डियूनुदयावलियं पवेसेदि, असंखेज्जलोग पडिभागेण उदयावलिय  
 बाहिरे च एगागोवुच्छसेढीए णिकखेवं करेइ । सेसाणं च दोणं कम्माणमुदयावलिय  
 बाहिरे एगागोवुच्छायारेण णिकखेवं करेइ । एवं तिणहमण्णदरस्स कम्मस्स उदय

परिणामेण मिच्छाइट्टी सम्मामिच्छाइट्टी वेदय सम्माइट्टी वा होदिति । (क.पा. भाग 12 पृ. 314 पै. 204)

यह गाथा दर्शन मोहनीय कर्म के सर्वोपशम से अवस्थान काल के प्रमाण का अवधारण करने के लिये आई है। यथा-यहां गाथा सूत्र में 'अंतोमुहुत्तमद्दं ऐसा कहने पर अन्तरायामका संख्यात्वां भाग प्रमाण काल लेना चाहिए।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है?

समाधान—पूर्व में कहे गये अल्पबहुत्व से जाना जाता है।

मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मय्यादृष्टि या वदक सम्बन्धित होता है।  
इस गाथासूत्र में दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियां कितने काल तक उपशान्त रहती हैं और उसके बाद इन तीनों प्रकृतियों का क्या होता है इस बात का विचार करते हुए बतलाया गया है कि ये तीनों प्रकृतियां अन्तरायाम के संख्यात्वे भाग प्रमाण अन्तर्मूहूर्त काल तक उपशम होने से उपशान्त रहती हैं। गाथा में सर्वोपशम पाठ आया है। उसका इतना ही तात्पर्य है कि उपशम सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोहनीय की सब प्रकृतियों का उदयाभाव रूप उपशम होता है। दर्शन मोहनीय की सब प्रकृतियों सम्बन्धी प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश चारों ही अन्तर्मूहूर्त काल तक उदय के अयोग्य हो जाते हैं यही यहां सर्वोपशम है। उसके बाद तीनों में से किसी एक प्रकृति का नियम से उदय होता है। जिसका उदय होता है उसका उदय समय से अपकर्षण होकर निक्षेप होता है और जिन दो प्रकृतियों का उदय नहीं होता उनका उदयावलि के बाहर अपकर्षण होकर निक्षेप होता है।

कुन्द कुन्द देव ने भी मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व कर्म के कारण बंध करने वाला कहा है।

મિચ્છાદંસણામગે મળિણે અણણાણ મોહદોસેહિં ।

बज्जंति मूढजीवा मिच्छता बुद्धि उदएण ।

(षट् प्राभृत पृ. 76 गाथा 16)

अज्ञान और मोहरूपी दोषों से मलिन मिथ्यामार्ग में विचरण करने वाले मृदु जीव-अज्ञानी प्राणी, मिथ्यात्व और अज्ञान के उदय से बन्ध को प्राप्त होते हैं।

बहुत नयचक्र में श्रीमत् आचार्य माइल्लधवल ने कहा भी है—

इह इव मिच्छादिट्टी कम्मं संजणइ कम्मभावेहि ।

जह बीयंकुरणाय तं तं अवरोप्परं तह य (132) (नयचक्र पृ७८)

ऐसे ही मिथ्यादृष्टि कर्म से कर्म को उत्पन्न करता है जैसे बीजांकुर न्याय में बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है वैसे ही कर्म के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये ।

पंचपरावर्तन रूपी संसार का परिभ्रमण उसका नहीं होता है जिसने एक बार भी सम्यग्दर्शन को कुछ क्षणों के लिये भी प्राप्त कर लिया हो। वह तो केवल अधिक से अधिक अर्द्धपुर्णल परिवर्तन काल तक संसार में रह सकता है अथवा वह तद्भव में या तीन-चार भव में मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। गोमटसार जीव काण्ड की भव्य मार्गणा की 559, 560 की टीका में इसका विस्तृत वर्णन है जिसका सारांश यह है कि जिनमत के द्वारा दिखाये गये मुक्ति के मार्ग का श्रद्धानन्द करता हुआ प्राणी अनेक प्रकार के दुःखों से भ्रे पंच प्रकार के संसार में भ्रमण करता है।

पचंविधे संसारे कर्मवशाज्जैन दर्शितं मृक्ते� ।

मार्गमपश्यम् प्राणी नाना दुःखाकले भ्रमित ॥ पृ. 800 ॥

स्वामी कार्तिकेय ने भी कार्तिक अनुप्रेक्षा में (संसार अनुप्रेक्षा) उपरोक्त सिद्धांत को ही प्रतिपादित किया है—

एवं जं संसरणं णाणा-देहेस होदि जीवस्स ।

सो संसारे भण्णदि मिच्छकसायहिं जृत्स्स (33 पृ. 16)

मिथ्यात्व कषाय वगैरह से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीर में जो संसरण (परिभ्रमण) होता है, उसे संसार कहते हैं।

बंधदि मुच्चदि जीवो पडिसमयं कर्म-पुगग्हा विविहा ।  
णोकर्म-पुगग्ला वि य मिच्छत कसाय संजुतो

(67 पृ. 31, 32)

मिथ्यात्व और कषाय से युक्त संसारी जीव प्रति समय अनेक प्रकार के कर्म पुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को भी ग्रहण करता और छोड़ता है। यदि मिथ्यात्व से तीव्र स्थिति, अनुभाग बंध नहीं होता तब यह पंच परावर्तन केवल कषाय के बल पर क्या हो सकता था? कर्म सिद्धांत के सूक्ष्म गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण पाप प्रकृतियों का तीव्र बन्ध मिथ्यादृष्टि को ही होता है।

गोमटसार कर्मकाण्ड में इसका स्पष्ट निर्देशन किया गया है जो निम्न प्रकार है—

सव्वुक्कस्सठिदीणं मिच्छाइड्वी दु बंधगो भणिदो ।  
आहारं तित्थयरं देवाउ चावि मोतूण ॥(गो. क. पृ 130 गा. 135)

आहारक द्विक, तीर्थकर और देवायु इन चार को छोड़कर शेष एक सौ सोलह प्रकृतियों की सर्वोक्लृष्ट स्थितियों का बन्धक मिथ्यादृष्टि को ही कहा है। किन्तु इन चार का बन्धक सम्पर्यग्दृष्टि ही है।

केवल मिथ्यात्व गुणस्थान मिथ्यात्व के कारण तीव्र स्थिति अनुभाग का बंध नहीं होता है अपरंतु मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्मस्थिव के अधिक प्रत्यय हैं और अधिक कर्म, प्रकृतियों का भी आस्थव एवं बंध होता है—गोमटसार कर्मकाण्ड के आस्थव अधिकार में इसका विस्तृत वर्णन है—

मिच्छतं अविरमणं कसाय जोगा य आस्थव होति ।  
पण बारस पणुवीसं पण्णरसा होति तभेया ।  
(गो. क. 786 गा. पृ. 1122)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, ये चार मूल प्रत्यय अर्थात् आस्थव हैं। क्योंकि इनके द्वारा कार्मण स्कन्ध 'आस्थवन्ति' अर्थात् कर्म रूपता को प्राप्त होते

हैं। उनके भेद क्रम से पांच, बारह, पच्चीस, पन्द्रह होते हैं। सब मिलकर सत्तावन उत्तर प्रत्यय होते हैं।

चतुपच्चइगो बंधो पद्मेऽणंतरतिगेतिपच्चइगो ।  
मिस्सगविदियं उवरिमदुगं च देसेकदेसमि ॥

(गो. क. गा. 787 पृ. 1122)

गुणस्थानों में मूल प्रत्यय इस प्रकार हैं—मिथ्यादृष्टि में बन्ध के चारों प्रत्यय हैं। सासादन आदि तीन में मिथ्यात्व के बिना तीन प्रत्यय हैं। देश अर्थात् लेशरूप से एक असंयम को जो 'दिशति' अर्थात् त्यागता है उसे 'देशैकदेश' या देश संयत कहते हैं। उससे भी बन्ध के तीन ही कारण हैं। इतना विशेष है कि योग कषाय के साथ अविरति विरति से मिली हुई है।

उवरिल्लपंचये पुण दु पच्चया, जोगपच्चओ तिणहं ।  
सामण्णपच्चया खलु अट्ठणं होति कम्माण ॥(गो. क. गा. 788)

ऊपर के पांच गुणस्थानों में योग और कषाय दो ही प्रत्यय हैं। उपशान्त कषाय आदि तीन में एक ही प्रत्यय योग है। इस प्रकार गुणस्थानों में आठ कर्मों के कारण सामान्य प्रत्यय हैं।

पणवण्णा पण्णासा तिदालछादाल सत्ततीसा य ।  
चतुवीसा बावीसा बावीसमपुव्वकरणोति ॥(गो. क. गा. 789)

थूले सोलसपहुडी एगूणं जाव होदि दस ठाणं ।  
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव ॥(गो. क. गा. 790)

गुणस्थानों में उत्तर प्रत्यय इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि में आहारक, आहारक द्विक न होने से पचपन प्रत्यय है। सासादन में पांच मिथ्यात्व न होने से पचास प्रत्यय हैं। मिश्र में औदारिक मिश्र, वैक्रियिक मिश्र, कार्मण योग, अनन्तानुबन्धी चतुष्क न होने से तैतालीस प्रत्यय हैं। मिश्र में घटाये तीन योगों को मिलाने से असंयत में छियालीस प्रत्यय हैं। देशसंयत में वे तीनों मिश्रयोग, वैक्रियिककाय योग, त्रस हिंसा रूप अविरति और अप्रत्याख्यान कषाय चार न होने से सैतीस प्रत्यय हैं। प्रमत्त में शेष ग्यारह अविरति और प्रत्याख्यानावरण चार न होने से तथा आहारक द्विक के होने से चौबीस प्रत्यय हैं। अप्रमत्त आदि दो में आहारक द्विक न होने से बाईस प्रत्यय हैं। अनिवृत्तिकरण में छह नो

कषाय न होने से सोलह, नर्पुसक वेद न होने से पन्द्रह, स्त्री वेद न होने से चौदह, पुरुष वेद घटने से तेरह, संज्वलन क्रोध न रहने से बारह, मान न रहने पर ग्यारह, माया न रहने पर दस प्रत्यय हैं। सूक्ष्म साम्पराय में बादर लोभ नहीं है, सूक्ष्मलोभ है अतः दस प्रत्यय हैं। उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय में सूक्ष्म लोभ न रहने से नव प्रत्यय हैं। सयोगी में सत्य और अनुभय मनोयोग, सत्य और अनुभय वचनयोग, औदारिक, औदारिक मिश्र, कार्मण ये सात प्रत्यय हैं। अयोगी में कोई प्रत्यय नहीं।

मिच्छे पण मिच्छतं पढमकसायं तु सासणे मिस्से ।  
सुण्णं अविरदसम्मे बिदिय कसायं विगुव्वदुगकम्मं ॥

ओरालमिस्सतसवह णवयं देसम्मि अविरदेवकारा ।  
तदिय कसायं पण्णर पमतविरदम्मिहारदुगछेदो ॥

सुण्णं पमादरहिदेऽपुव्वे छण्णोकसायवोच्छेदो ।  
अणियद्विम्मि य कमसो एककेवकं वेदतिय कसाय तियं ॥

सुहुमे सुहुमोलोहो सुण्णं उवसंतगेसु खीणेसु ।  
अलियुभयवयणमणचउ जोगिम्मि य सुणह वोच्छामि ॥

सच्चाणुभयं वयणं मणं च ओरालकाय जोगं च ।  
आरोलमिस्सकम्मं उवयारेणेव सब्भाऊं ॥

(गो. क. पृ. 1127 टी. 790)

मिथ्यात्व में पांच मिथ्यात्व की व्युच्छिति होती है। अर्थात् ये पांच ऊपर के गुणस्थानों में नहीं रहते। सासादन में प्रथम चार कषाय, मिश्र में शून्य, अविरत में दूसरी चार कषाय, वैक्रियिकद्विक कार्मण औदारिक मिश्र त्रस हिंसा ये नो, देश संयत में ग्यारह अविरति तीसरी चार कषाय ये पन्द्रह, प्रमत्तविरत में आहारकद्विक, अप्रमत्त में शून्य, अपूर्व करण में छह नो कषाय, अनिवृत्तिकरण में क्रम से एक-एक करके तीन वेद तीन कषाय, सूक्ष्म साम्पराय में सूक्ष्म लोभ, उपशान्त कषाय में शून्य, क्षीण कषाय में असत्य और उभय मनोयोग तथा वचन योग की व्युच्छिति होती है। सयोगी में सत्य अनुभय वचन तथा मन और औदारिक औदारिक मिश्र कार्मण ये सात योग उपचार से हैं।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि से बहुत ही कम आस्त्रव एवं बंध सम्यग्दृष्टि करता है उसकी निर्जरा मिथ्यादृष्टि से एक दो गुनी नहीं लाख करोड़ गुनी भी नहीं परन्तु असंख्यत गुणित होती है जो बन्ध भी होता है वह बंध अनन्तसंसार के लिए कारण भी नहीं बन सकता है क्योंकि मिथ्यात्व को ही अनन्त कहा है और मिथ्यात्व से रहित अन्य कर्म जीव को संसार में नहीं रूला सकते हैं मैंने इस ही पुस्तक में अन्य-अन्य स्थान में आगम से सिद्ध कर लिया है कि मिथ्यात्व के अभाव से कौन-कौन सी खोटी पाप प्रकृतियों का बंध नहीं होता एवं कौन -कौन सी दुर्गति को सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं करता है उसका सविस्तृत वर्णन कर चुका हूँ। यहां विस्तार भय से या पुनरोक्ति के भय से वर्णन नहीं कर रहा हूँ। यहां पर सम्यग्दर्शन से संवर एवं निर्जरा होती है उसका कुछ विशेष वर्णन प्रस्तुत कर रहा हूँ। स्वामी कार्तिक अनुप्रेक्षा की संवर अनुप्रेक्षा की प्रथम गाथा निम्न प्रकार की है—

समतं देस-वयं महव्यं तह जओ कसायाण ।  
एदे संवर-णामा जोगा भावो तहा चेव ॥ (95 पृ. 46)

सम्यक्त्वं देशवत्, महावत् कषायों का जीतना और योगों का अभाव ये सब संवर के नाम हैं। पंचाध्यायी में भी सम्यक्त्व के साथ निर्जरा का अविनाभावी सम्बन्ध बताया गया है। यथा—

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येऽपि ते निर्जरादयः ।  
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥(873) पृ. 354

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम् ।  
सद्भावोऽस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वानोपयोगि तत् ॥

(874 पृ. 354)

इसी प्रकार जिन निर्जरादिक का सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है उनकी उपयोग के साथ थोड़ी भी व्याप्ति नहीं है। उस समय चाहे उपयोग हो चाहे न हो, किन्तु सम्यक्त्व के होने पर निर्जरादिक अवश्य होते हैं, उनका अभाव नहीं किया जा सकता।

ज्ञान चाहे आत्मा में उपयुक्त हो चाहे परात्मा में उपयुक्त हो। किन्तु तब सम्यक्त्वरूप भावों के होने पर वे निर्जरादिक होते ही हैं।

समयसार में आध्यात्मिक दृष्टि से अभेद रत्नत्रयधारी निश्चय सम्यगदृष्टि को पूर्ण अबंधक बताया गया है परन्तु व्यवहार सम्यगदृष्टि को भी आंशिक अबंधक बताया गया है। यदि सम्यगदृष्टि अबंधक है तो मिथ्यादृष्टि बंधक है और मिथ्यादर्शन बंध कारक है परिशेष न्याय से स्वयमेय सिद्ध हो जाता है किन्तु कोई यह नहीं समझे कि मैं सम्यगदृष्टि को अबंधक बताकर उन्हें स्वेच्छाचारी, भोगवादी बनाना चाहता हूँ परन्तु जिस अंश में सम्यगदर्शन है उस अंश में बन्ध नहीं होता है परन्तु जितने अंश में राग द्वेष हैं उतने अंश में बंध होता है। अमृतचन्द्र सूरी ने कहा भी है—

असमं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्म बन्धोऽयः ।  
सोविपक्ष कृतेवश्यं, मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ पु. सि. 211

एक देश रूप रत्नत्रय को पालन करने वाले पुरुष के जो कर्म बन्ध होता है वह रत्नत्रय के विपक्षभूत राग द्वेष का किया हुआ है तथापि वह नियम से मोक्ष का कारण भूत है बन्धन का कास्त्र नहीं है।

क्षायिक सम्यगदर्शन की महिमा बताते हुए आचार्य श्री ने उसको कर्मक्षय का कारण कहा है।—यथा—

खीणे दंसण मोहे जं सद्हणं सुणिम्पलं होई ।  
तक्खाइयसम्भतं णिच्चं कम्पक्खवण हेदू ॥ जीवकाण्ड, गा. 646.

दंसण मोहक्खविदेसिज्जदि एक्केव तदियतुरियभवे ।  
णादिच्छदि तुरिय भवं ण विणस्सदि सेस सम्मं वा ॥

करणलब्धिरूप परिणामों की सामर्थ्य से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीन दर्शन मोह के तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षय होने पर जो अत्यन्त निर्मल श्रद्धान होता है उसका नाम क्षायिक सम्यदर्शन हैं। वह नित्य है, क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के साथ आत्मा का गुण है।

तथा प्रतिसमय गुण श्रेणी निर्जरा का कारण होता है। कहा है—

दर्शनमोह का क्षय होने पर उसी भव में या तीसरे अथवा चौथे भव में कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करता है। चतुर्थ भव का अतिक्रमण नहीं करता

और न अन्य सम्यक्त्वों की तरह नष्ट ही होता है। इसी से इसे नित्य कहा है अर्थात् यह सादि अक्षयानन्त होता है।

तच्च नित्यं स्यात् प्रतिपक्ष प्रक्षयोत्पन्नात्य गुणात्वात् । पुनःप्रति समयं गुण श्रेणिनिर्जरा कारणं भवति ।

वयणेहि वि हेदूहि वि इंदियभय आणएहि रूवेहि ।

वीभच्छजुगुंछाहि य तेलोक्केण वि चालेज्जो ॥ गो. जी. गा. 647

कुत्सित वचनों से, मिथ्याहेतु और दृष्टान्तों से, इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले भयंकर रूपों से, धिनावनी वस्तुओं से उत्पन्न हुई ग्लानि से, बहुत कहने से क्या, तीनों लोकों के द्वारा भी क्षायिक सम्यक्त्व को विचलित नहीं किया जा सकता।

सम्यदर्शन के विभिन्न रूप—

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचि प्रतीतयः ।  
चरणं च यथाम्नायमथात्तत्वार्थं गोचरम् ॥

(पंचाध्यायी पृ. 381, श्लोक 411)

आम्नाय (शास्त्र-पद्धति) के अनुसार अर्थात् जीवादि तत्त्वों के विषय में श्रद्धा करना, रुचि करना, प्रतीति करना, आचरण करना, यह सब कथन उद्देश्य कहलाता है।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।  
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥

(श्लोक 412)

तत्त्वार्थ (जीवादि तत्त्व) के समुख बुद्धि का होना अर्थात् तत्त्वार्थ के जानने के लिये उद्यत बुद्धि का होना श्रद्धा कहलाती है। और तत्त्वार्थ में आत्मीक भाव का होना रुचि कहलाती है। “वह उसी प्रकार है” ऐसा स्वीकार करना प्रतीति कहलाती है और उसके अनुकूल क्रिया करना चरण-आचरण कहलाता है। स्वानुभूतिं सनाथाशचेत् सन्ति श्रद्धादयोऽगुणाः ।

स्वानुभूति बिनाऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयोऽगुणाः ।

(श्लोक 415)

यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूति के साथ हों तो वे गुण (सम्यग्दर्शन के लक्षण) समझे जाते हैं और बिना स्वानुभूति के गुणाभास समझे जाते हैं। अर्थात् स्वानुभूति के अभाव में श्रद्धा आदिक गुण नहीं समझे जाते।

तत्त्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।  
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ (श्लोक 416)

इसलिये ऊपर कहने का यही सारांश है कि श्रद्धा आदिक चारों ही यदि स्वानुभूति के साथ हों तो वे ही श्रद्धा आदिक सम्यग्दर्शन समझे जाते हैं और यदि श्रद्धा आदि मिथ्यारूप हों—मिथ्या श्रद्धा आदि हों तो सम्यक्त्व नहीं समझे जाते किन्तु श्रद्धाभास और रूच्याभास आदि समझे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन से निर्जरा—सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वाभाविक गुण होने से इससे यथायोग्य संवरपूर्वक निर्जरा होती है यदि सम्यग्दर्शन से निर्जरा नहीं होती तो ज्ञान चारित्र आदि से भी निर्जरा नहीं हो सकती है। आगम में सम्यग्दर्शन से निर्जरा होती है कहा भी है—

साध्यं यदशनाद्वेतोनिर्जरा चाष्टकर्मणाम् । (899 1/2) पृ. 358  
पंचाध्यायी) प्रकृत में साध्य आठों कर्मों की निर्जरा है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है।

णात्य दु आसवबंधो सम्मादिद्विस्स आसवणिरोहो ।  
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥  
(173) (स. सा. पृ. 167)

सम्यग्दृष्टि जीव के आस्व-मूलक नवीन कर्मों का बंध नहीं होता किन्तु उसके आस्व का निरोध ही होता है और पूर्व में बांधे हुए सत्ता में विद्यमान कर्मों को जानता ही है परन्तु नवीन कर्म बंध नहीं करता है।

णात्य दु आसवबंधो सम्मादिद्विस्स आसवणिरोहो न भवतःन विद्येते ।  
कौ ? तौ आस्व बन्धौ । गाथायां पुनः समाहारद्वन्द्वसमापेक्षया द्विवचनमयेक-  
वचनं कृतं । कस्यास्ववबन्धौ न स्त ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । तर्हि किमस्ति ?  
आस्वनिरोधलक्षण संवरोऽस्ति । सो स सम्यग्दृष्टः । संते सन्ति विद्यमानानि । ते  
तानि । पुव्वणि बद्धे पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादिकर्माणि । अथवा प्रत्ययापेक्षया

पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् । जाणदि जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति । किं  
कृत्वा सन् ? अबंधंतो विशिष्ट भेदज्ञान बलान्वतराण्यभिनवान्यवधन्-  
भनुपार्जयन् इति । अयमत्र भावार्थः । सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति ।  
तत्र योऽसौ सराग सम्यग्दृष्टिः—

सोलसपणवीसणभं दसचउछवकेक्क बंधवोच्छिणा ।  
दुगतिसचदुर पुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को ॥

इत्यादि बन्धत्रिभर्म्मगकथितबन्धविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया  
तिचत्वारिंशत्प्रकृतिनामबन्धकः । सपाधिकसप्ततिप्रकृतिनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां  
बन्धकोऽपि सन् संसार स्थितिच्छेदको भवति । तेन कारणेनाबन्धक इति ।  
तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्जीवणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यन्तं  
अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबन्धकः । उपरिम गुणस्थानापेक्षया पुनर्बन्धकः ।  
तातश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबन्धको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्ट्यः  
सर्वथा बन्धो नास्तीति न वक्तव्यं ।

“णात्य दु आसवबंधो सम्मादिद्विस्स आसवणिरोहो” यहाँ गाथा में  
आस्व और बंध इन दोनों को समाहार-द्वन्द्व समासरूप किया है, अतः द्विवचन  
के स्थान पर एक वचन है। कर्मों का आस्व और बंध सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं  
होता उसके तो आस्व का निरोध ही है लक्षण जिसका ऐसा संवर होता है। सो  
वह सम्यग्दृष्टि जीव संते ते पुव्वाणिबद्धे सत्ता में विद्यमान पूर्व  
निबद्ध-ज्ञानावरणादि कर्म उनको अथवा प्रत्ययों की अपेक्षा से कहें तो  
पूर्व-निबद्ध-मिथ्यात्वादि-प्रत्ययों को जाणादि जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही  
जानता रहता है। क्या करता हुआ जानता है कि अबंधंतो विशिष्ट भेदज्ञान के  
बल से वह नवीन-कर्मों को नहीं बांधता हुआ जानता है। भावार्थ यह कि  
सम्यग्दृष्टि जीव सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें से  
वीतराग सम्यक् दृष्टि जीव तो नवीन कर्म-बंध को सर्वथा नहीं करता, जिसको कि  
लक्ष्य में लेकर यहाँ कथन किया गया है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि जीव  
अपने-अपने गुणस्थान के क्रम से बंध-व्युच्छिति करने वाला होता है। जैसा कि  
“सोलसपण वीसणभं” दसचउछवकेक्क बंधवोच्छिणा । दुगतीसचतुरपुव्वे पण

सोलस जोगिणो इवको । इत्यादि बंध त्रिभंगी में बताये हुए बंध विच्छेद के क्रम से विचार कर देखें तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यगदृष्टि—जीव मिथ्यात्वाति गुणस्थानों में विच्छिन्न हुई 43 प्रकृतियों का बन्ध करने वाला नहीं होता, किन्तु 77 प्रकृतियों का अल्पस्थिति-अनुभाग के रूप में बंधक भी होते हुए वह संसार की स्थिति का छेदक होता है परीत-संसारी बनकर रहता है । इस कारण से वह अबंधक ईष्ट् बंधकार होता है । इस प्रकार अविरत चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर वे गुण स्थानों में भी जहाँ तक सरागसम्बद्धर्दशन रहता है वहाँ तक जहाँ जैसा सम्भव है वहाँ तारतम्यरूप से निचले गुणस्थानों की अपेक्षा से अबंधक होता जाता है । किन्तु उपरिम गुणस्थानों की अपेक्षा से देखने पर वह बंधक भी है । हाँ, जहाँ सराग-सम्बद्धत्व के आगे वीतराग-सम्बद्धत्व होता है वह साक्षात् स्पारूप से अबंधक होता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि हम भी सम्यगदृष्टि हैं और सम्यगदृष्टि के बंध नहीं होता इसलिये हमें भी बंध नहीं होता ऐसा नहीं समझना चाहिये । क्योंकि यहाँ पर जितना भी कथन है वह वीतराग सम्यगदृष्टि को लक्ष्य में लेकर किया गया है जैसा कि आचार्य देव ने स्थान-स्थान पर वर्णन किया है ।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि ।  
रागादिविष्पमुक्तो अबंधगो जाणगो णवरि ॥(174)

जीव के द्वारा किया हुआ रागादियुक्त-अज्ञान भाव ही नवीन-कर्म के बन्ध होने में कारण होता है । किन्तु रागादि से रहित आत्मा का भाव नूतन-बन्ध का कारण नहीं होता । वह तो केवल जानने वाला ही होता है ।

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि यथा अयस्कान्तोपल संपर्क जो भावः परिणतिविशेषः; कालायससूचिं प्रेरयति तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञान जो भावः परिणतिविशेषः कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानन्दमव्ययमनादिमनन्त शक्ति मद्योतिनं निरुपलेप गुणमपि जीवं शुद्ध स्वभावात्रच्युतं कृत्वा कर्म बन्धं कर्तुं प्रेरयति । रागादिविष्पमुक्तो अबंधगो जाणगो णवरि यथा चायस्कान्तोपलसंपर्क रहितो भावः परिणतिविशेषः कालायससूचिं न प्रेरयति तथा रागाद्यज्ञान विष्पमुक्तो भावस्त्वबन्धकः सन् नवरि किन्तु जीवं कर्म बन्धं कर्तुं न प्रेरयति । तर्हि विं

करोति ? पूर्वोक्त शुद्ध स्वभावेनैव स्थापयति । ततो ज्ञायते निरुपराय चैतन्य चिच्चमत्कार मात्र परमात्म पदार्थाद्विना रागद्वेषमोहा एवं बन्ध कारणमिति । (समय. पृ. 169 टी. 174)

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि—जैसे कि चुम्बक-पाषाण के संसर्ग से उत्पन्न हुआ परिणाम विशेष वह लोहे की सूचि को हिलाने-डुलाने वाला होता है, वैसे ही जीव के द्वारा किया हुआ रागादिरूप अज्ञान भाव ही—जीव का वह परिणाम विशेष ही — जो यह जीव अपने सहज शुद्ध भाव के द्वारा सदानन्दमय, कभी भी नष्ट नहीं होने वाला, सदा से बना रहने वाला, अनन्तशक्ति का धारक एवं किसी भी प्रकार के दुःसंसर्ग से रहित स्वयं उद्योतमान होने वाला है उस जीव को उसके शुद्ध रूप से चिंगाकर कर्मबंध करने के लिए प्रेरित करता है । रागादि विष्पमुक्तो अबंधगो जाणगो णवरि किन्तु जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के संसर्ग से रहित भाव लोहे की सुई को नहीं हिलाता है उसी प्रकार रागादि से रहित जो भाव है वह अबन्धक होता है वह जीव को कर्म बन्ध करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वह तो इसे पूर्वोक्त शुद्ध स्वभाव में ही स्थिर कर रखता है—अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा रखता है । इस कथन से यह जाना जाता है कि किसी भी प्रकार के संसर्ग से रहित चिच्चमत्कार मात्र जो परमात्म पदार्थ है उससे भिन्न स्वरूप जो राग-द्वेष-मोह रूप भाव वे बन्ध के कारण है ।

राग-द्वेष-मोह इन तीनों में से किसी से भी युक्त जीव का भाव बंध का कारण होता है । किन्तु उपर्युक्त तीनों विभावों से रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय भाव कभी बन्ध करने वाला नहीं होता । हाँ, राग भाव से जो बन्ध होता है वह मन्द होता है, द्वेषभाव अदेखसकापन से तीव्र बन्द होता है किन्तु मोह भाव—मिथ्यात्व से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है । किन्तु निर्बन्ध दशा तो इन तीनों से रहित शुद्ध भाव होने पर ही होती है ।

पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्जदे पुणो विंटे ।  
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि ।

(समय पृ. 170, टा 175)

जैसे वृक्ष या बेल का फल पककर गिर जाने पर वह फिर गुच्छ या बेल से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी जीव में होने वाला कर्म भाव पककर झङ्ग जाने पर उदय को प्राप्त होता है ।

सबे पुव्वणिबद्धा दु पच्च्या संति सम्पदिट्ठस्स ।  
उवओगप्पाओंगं बंधते कम्पभावेण । (स. सा. पृ. 174, गा. 180)

संतावि णिरुवभोज्जा बाला-इत्थी जहेव पुरिस्स ।  
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स । (गा. 181)

होटुण णिरुव भोज्जा तह बंधादि जह हवंति उवभोज्जा ।  
सत्तटविहो भूदा णाणावरणादि भावेहिं । (गा. 182)

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्टी अबंधगो होदि ।  
आसव भावाभावे ण पच्च्या बंधगा भणिदा ।  
(स. सा. पृ. 174 गा. 183)

वीतराग सम्यदृष्टि जीव के भी पूर्व की सरागदशा में बाँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म सत्ता में विद्यमान रहते हैं जो कि उपयोग में लाने पर नवीन कर्म बन्ध करने वाले होते हैं, जो कि आयु के बिना ज्ञानावरणादि सात कर्मों का तथा आयु सहित आठ प्रकार के कर्मों का बंध करने वाले होते हैं। किन्तु वीतराग सम्यदृष्टि के तो वे सब प्रत्यय निरूपभोग्य रूप से सत्ता में होते हैं उपयोग में आकर रागकारक नहीं होते। जैसे स्त्री बालावस्था में हो तो वह राग पैदा करके उसको विवश करने वाली नहीं होती, अपितु वही स्त्री युवावस्था को प्राप्त होने पर रागोत्पादक होकर विवश करने वाली होती है। इसी प्रकार वीतराग सम्यदृष्टि के सत्ता में प्रत्यय विद्यमान होने पर भी बाल स्त्री के समान होने से रागकारक नहीं होते अतः नवीन बंध करने वाले भी नहीं होते।

मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थं गुणस्थाने सराग सम्यदृष्टिः त्रिचत्वारिशत्प्रकृती नामबन्धक । सप्ताधिकसप्तति प्रकृतिनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि संसार स्थितिच्छेदं करोति तथा चोक्तं सिद्धांते “द्वादशाङ्गमस्त-तीव्रं भक्ति-रनिवृत्तिं परिणामः केवलि समुद्धातश्चेति संसार स्थिति धातकरणानि भवन्ति” तद्यथा तत्र द्वादशांगश्रुत विषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः। निश्चयेन तु वीतराग स्वसंवेदन लक्षणं चेति। भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सराग

सम्यग्दृष्टीनां पञ्चपरमेष्ठयाराधनारूपा । निश्चयेन वीतराग सम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्वं भावनारूपा चेति । न निवृत्तिरनिवृत्तिः शुद्धात्मस्वरूपादचलनं एकाग्रं परिणतिरिति । तत्रैवं सति द्वादशांगवगमो निश्चयव्यवहार ज्ञानं जातम् । भक्तिस्तु निश्चयव्यवहार सम्यक्त्वं जातम् । अनिवृत्ति परिणामस्तु सराग चरित्रानन्तरं वीतरागचरित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरित्राणि भेदाभेद रत्नत्रय-रूपेण संसार विच्छित्ति कारणानि भवन्ति । केषां? छद्मस्थानामिति । केवलिनां तु भगवतां दण्डकपाट प्रतर लोक पूरण रूपः केवलिसमुद्धातः संसारविच्छितिकारण मिति भावार्थः । एवं द्रव्य प्रत्यया विद्यमान अपि रागादि भावास्वाभावे सति बन्धकारणं न भवन्तीति । (समय-सार पृ. 176 सं. टी. 180 - 183)

यह संसारी जीव जब अनन्त-संसारात्मक मिथ्यादृष्टिपन को पारकर चतुर्थं गुणस्थान में पहुँचता है तथा अविरत-सराग सम्यदृष्टि बनता है तो इसके मिथ्यात्वादि 43 प्रकृतियों का नूतन-बन्ध होने से रह जाता है शेष 77 प्रकृतियों का बंध करता रहता है किन्तु पूर्व की अपेक्षा स्वल्प-स्थिति और अनुभाग को लिए हुए बांधता है, एवं संसार की स्थिति को छेदकर उसे परीत संसार बना लेता है। जैसा कि-सिद्धांत में कहा है “द्वादशांगमस्ततीव्रं भक्तिरनिवृत्तिं परिणामः केवलि समुद्धाश्चेति संसारस्थिति धातकरणानि भवन्ति” (1) परिपूर्ण द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त होना (2) अरहन्त भगवान के प्रति भक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन का लाभ होना (3) शुद्धात्म स्वरूप से एकाग्रतारूप अविचलित परिणाम होना (4) और केवली समुद्धात का होना ये चार कारण संसार की स्थिति को छेदने के लिए होते हैं। वहाँ द्वादशांग के विषय में जो ज्ञान है वह व्यवहारनय से दूतर नीवाहि बाह्य समस्त पदार्थों का श्रुत के द्वारा ज्ञान हो जाना है और निश्चयनय से वीतराग रूप स्वसंवेदनात्मक ज्ञान का हो जाना सो द्वादशांगवगम कहलाता है। भक्ति नाम सम्यक्त्व का है जो व्यवहार से तो पंच परमेष्ठी की समाराधनारूप होती है वह सराग सम्यदृष्टि जीवों के हुआ करती है, किन्तु निश्चय से तो वह भक्ति वीतराग-सम्यदृष्टि जीवों के शुद्धात्म तत्व की भावना के रूप में हुआ करती है। निवृत्ति-वापिस लौटना न होना सो अनिवृत्ति कहलाता है अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप से च्युत न होना, एकाग्रता रूप परिणमन हो सो अनिवृत्ति है। इस प्रकार द्वादशांग का निश्चय और व्यवहार रूप दोनों

प्रकार का ज्ञान हो जाना सो द्वादशांगावगम कहलाता है। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के सम्यक्त्व का होना सो भक्ति कहलाती है। सरागचारित्र हो जाने पर वीतराग चारित्र को भी होना सो अनिवृत्ति परिणाम हैं। इस प्रकार भेदरत्नत्रय और अभेद रत्नत्रय के रूप में जो सम्पदर्शन, सम्प्यज्ञान और सम्यक् चरित्र होते हैं वह संसार की स्थिति के छेदन के कारण होते हैं जो कि छद्यस्थ जीवों के हुआ करते हैं किन्तु केवली भगवान के दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण जो केवली समुद्धात होता है वह संसार की स्थिति छेदने में कारण होता है यह तात्पर्य है इस प्रकार द्रव्यप्रत्यय होकर भी रागादिरूप भाव आस्त्रव के न होने पर नूतनबन्ध करने वाले नहीं होते।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्यि सम्मादिट्ठस्स ।

तहा आसव भावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ।

(स. सा. पृ. 177, गा. 184)

हेदू चदु वियप्पो अटुवियप्पस्स कारणं होदि ।

तेसि पिय रागादी तेसिमभावे ण बज्जंति ।

(स. सा. पृ. 177 गा. 185)

मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग ये चार कारण ज्ञानावरणादि आठ प्रकार कर्म बंध के कारण होते हैं। उनकी कारणता को प्रस्फुत कर बताने वाले जीव के राग, द्रेष और मोह भाव है जिनके न होने पर मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रत्यय होकर भी अपना कार्य नहीं कर पाते। एवं रागद्रेष और मोहरूप आस्त्रव भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते हैं, अतः आस्त्रव भाव के न होने से सम्यग्दृष्टि जीव के नूतन कर्म बन्ध नहीं होता है।

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्यि सम्मादिट्ठस्स रागद्रेषमोहाः सम्यग्दृष्टेन भवन्ति, सम्यग्दृष्टिवान्यथानुपत्तेरिति हेतुः। तथाहि, अनन्तानुबन्धि क्रोधमान-मायालोभ मिथ्यात्वोदय जनिता रागद्रेषमोहाः सम्यग्दृष्टेन सन्तीति पक्षः। कस्मात् इति चेत् केवल ज्ञानाद्यनन्तगुण सहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत षट् द्रव्य पञ्चास्तिकाय सप्त तत्त्व नव पदार्थ रुचि रूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशति दोष रहितस्य—“संवेऽो णिव्वेऽो णिदा गरुहा य उवसमोभती। वच्छल्लं अणुकम्पा गुणद्वसम्पत्तजुत्स्स” (56) इस गाथा में बताये हैं (1) संवेग—धर्म के प्रति अनुराग, (2) निर्वेद—भोगों में अनासक्ति, (3) निर्दा—अपने आप को भूल करने वाला मानना, (4) गर्हा—गुरुओं के नामे अपनी भूल स्वीकार करना, (5) उपशम—हर्ष और विषाद में उद्विग्न न आना, (6) भक्ति पंच परमेष्ठियों में अनुराग, (7) वात्सल्य—साधर्मियों के प्रति अतिभाव और (8) अनुकम्पा किसी को भी दुखी देखकर द्रवित हो जाना इन गुणों वाले चतुर्थगुणस्थान सम्बन्धी सम्यक्त्व की अन्यथा अनुपत्ति है। हेतु हुआ। अथवा अनन्तानुबन्धि और अप्रत्याख्यानावरण नाम वाले क्रोध, माया और लोभ के उदय से होने वाले राग-द्रेष और मोहभाव सम्यग्दृष्टि—जीव के नहीं होते, यह पक्ष हुआ।

गुणस्थानवर्तिसराग सम्यक्त्वस्यान्यथानुपत्तेरिति हेतुः। अथवा, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण संज्ञा क्रोधमानमायालोभोदय जनिता राग द्रेष मोहाः सम्यग्दृष्टेन सन्तीति पक्षः। कस्मादितिचेत् निर्विकार परमानन्दक सुख लक्षण परमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्य पञ्चास्तिकाय सप्ततत्त्व नव पदार्थ रुचि रूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशति दोष रहितस्य तदनुसारि प्रशम संवेगानुकम्पादेव पर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणस्य पञ्चमगुणस्थान योग्य देशचारित्राविना गाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभोदय जनित रागद्रेष मोहाः सम्यग्दृष्टेन सन्तीति पक्षः।

उवभोज्जमिदियेहि दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।  
जं कुणदि सम्मदिठी तं सवं णिज्जरणिमितं ।

(स. सा. पृ. 196, गा. 202)

सम्यग्दृष्टि वीतरागी जीव अपनी इन्द्रियों द्वारा चेतन तथा उनसे भिन्न अचेतन—द्रव्यों का उपभोग करता है पर, वह सब उसके लिए कर्मों की निर्जरा के निमित्त होता है ।

उवभोज्जमिदियेहि दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिठी—  
सम्यग्दृष्टि कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणं सम्बन्धि यद्वस्तुप्रभोग्यं करोति । कैः कृत्वा ?  
पन्वेन्द्रिय विषयैः । तं सवं णिज्जरणिमितं तद्वस्तु मिथ्यादृष्टे जीवस्य रागद्वेष  
मोहानां सद्भावेन बन्ध कारणमपि सम्यग्दृष्टे जीवस्य रागद्वेष मोहानामभावेन  
समस्तमपि निर्जरा निमित्तं भवतीति । अत्राह शिष्य—राग द्वेष मोहाभावे सति  
निर्जरा कारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जरा कारणं  
भवतीति ? अस्मिन् पूर्व पक्षे परिहारः । अत्र ग्रन्थे वस्तु वृत्त्या वीतराग  
सम्यग्दृष्टेग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौण वृत्त्या ग्रहणं,  
तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः । कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयत  
सम्यग्दृष्टेः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभ मिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य  
चाऽप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागादयो न सन्तीत्यादि । किं च  
सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बन्धपूर्विका  
भवति । तेन कारणेन मिथ्यादृष्टयपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबन्धक इति । (स. सा. पृ. 196  
टी. 202)

उवभोज्जमिदियेहि दव्वाणमचेदणाण मिदराणं जं कुणदि सम्मदिठ्ठ  
सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पांचों इन्द्रियों के द्वारा चेतन और अचेतन द्रव्यों में भोग्य  
और उपभोग्य वस्तु का जो उपभोग करता है, तं सवं णिज्जरणिमित वह सब  
उसके लिये निर्जरा का ही निमित्त होता है । जो वस्तु मिथ्यादृष्टि जीव के लिए  
राग-द्वेष और मोह भाव होने के कारण बंध में निमित्त कारण होती है वही वस्तु  
सम्यग्दृष्टि जीव के लिए राग-द्वेष और मोह भाव के न होने के कारण निर्जरा का  
निमित्त होती है । यहां शिष्य प्रश्न करता है कि राग-द्वेष और मोह भाव न होने  
पर सब ही निर्जरा का कारण बताया गया है सो ठीक, परन्तु गुरुदेव । सम्यग्दृष्टि

के तो रागादिक—भाव होते हैं सब ही सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागी नहीं होते हैं,  
इससे उसके कर्म की निर्जरा कैसे हो सकती है ? इसका समाधान आचार्य करते  
हैं कि, इस ग्रन्थ में वास्तविक में वीतराग—सम्यग्दृष्टि का ही ग्रहण किया गया  
है, परन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि का कथन यहां गौण है । यदि  
इसे भी यहां लिया जाये तो ? इस प्रश्न का समाधान पहले किया जा चुका है  
कि, मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव की अपेक्षा से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती  
अविरत सम्यग्दृष्टि जीव कम राग वाला होता है क्योंकि उसके मिथ्यात्व तथा  
अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, और लोभ—जनित रागादिक नहीं होते हैं तथा  
श्रावक के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ—जनित रागादिक नहीं  
होते हैं इत्यादि । तथा सम्यग्दृष्टि के जो भी निर्जरा होती है वह संवर—पूर्वक  
होती है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के वह हाथी स्नान के समान बन्धभाव पूर्वक हुआ  
करती हैं, इसलिये भी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अबन्धक होता है ।

## अध्याय - 2

# मोह के स्वरूप एवं भेद

दब्बादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो ति ।  
खुब्बदि तेणुच्छणो पप्पा रागं व दोसं वा । (83) प्र. सार

The deluded notion of the soul about substances etc, is called delusion, muffled therein and developing attachment or aversion the soul is baffled.

अथ शुद्धात्मोपलभ्य प्रतिपक्षभूत मोहस्य स्वरूप भैद्रांश्च प्रतिपादयति,— दब्बाहिएसु शुद्धात्मादि द्रव्येषु तेषां द्रव्याणामनन्त ज्ञानाद्यास्तित्वादि विशेष सामान्य लक्षणगुणेषु, शुद्धात्म परिणति लक्षण सिद्धत्वादि पर्यायेषु च यथासंभवं पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च मूढो भाषो एतेषु पूर्वोक्त द्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसंशय जनको मूढो भावः जीवस्स हवदि मोहोऽतः इत्थभूतो भावो जीवस्स दर्शनमोह इति भवति । खुब्बदि तेणुच्छणो तेन दर्शन मोहनावच्छन्नो झम्पितः सनक्षुभितात्म तत्त्व विपरीतेन क्षोभेन क्षोभं स्वरूपचलनं विपर्ययं गच्छति । किं कृत्वा । पप्पा रागं व दोसं वा निर्विकार शुद्धात्मनो विपरीत मिष्टानिष्टेन्द्रिय विषयेषु हर्ष विषाद रूप चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं वा प्राप्य चेति' अनेन किमुक्तं भवति । मोहो दर्शन मोहो रागद्वेषद्वयं चारित्र मोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ।

आगे शुद्ध आत्मा के लाभ के विरोधी मोह के स्वरूप और भेदों को कहते हैं—

(दब्बादिएसु) शुद्ध आत्मा आदि द्रव्यों के अनन्तज्ञानादि व अस्तित्व आदि विशेष और सामान्य गुणों में तथा शुद्ध आत्मा की परिणति रूप सिद्धत्व आदि पर्यायों में जिनका यथा-सम्भव पहले वर्णन हो चुका है जिनका आगामी वर्णन किया जायेगा इन ग्रन्थ द्रव्य गुण पर्यायों में विपरीत अभिप्राय रखकर (मूढो भावो) तत्वों में संशय-रूप अज्ञान भाव को उत्पन्न करने वाला (जीवस्स मोह ति हवदि) इस संसारी जीव के दर्शन-मोहनीय-कर्म हैं (तेणोच्छणो) इस दर्शन मोहनीय कर्म से आच्छादित हुआ यह जीव (रागं व दोसं वा पप्पा) विकार रहित शुद्धात्मा से विपरीत इष्ट अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में हर्ष विषाद रूप चारित्र मोहनीय नाम के रागद्वेष भाव को पाकर (खुब्बदि) क्षोभ रहित आत्म तत्व से विपरीत क्षोभ के कारण अपने स्वरूप से चलकर वर्तन करता है । इस कथन में यह बतलाया गया है कि दर्शन मोह का एक और चारित्र मोह के दो भेद राग, द्वेष इन तीन भेद रूप मोह हैं ।

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्वाप्रतियपतिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः द्वेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नायमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मागुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्मानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरूपादानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु राग द्वेषामुपशिलष्य प्रचुरतरम्भोभारयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेषा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेष भेदात्रिभूमिको मोहः । (तत्व प्रदीपिका)

पूर्व (गाथा 80 मे) वर्णित द्रव्य गुण पर्यायों में धूरा खाये हुए पुरुष की भाँति जीव के जो तत्व में अप्रतिपत्ति लक्षण (वास्तविक स्वरूप की अश्रद्धा रूप) मूढभाव (अज्ञानभाव) है, वह वास्तव में मोह है । उस मोह से आच्छादित हो गया है निज रूप जिसका, ऐसा आच्छादित होता हुआ यह आत्मा (1) पर द्रव्य को आत्म द्रव्य रूप से, परगुण रूप को आत्मरूप से और पर-पर्याय को आत्म-पर्याय भाव से समझता हुआ (अंगीकार) करता हुआ, (2) अतिरुद्धृतर संस्कार के कारण से पर द्रव्य को ही दिन प्रतिदिन (सदा) ग्रहण करता हुआ, (3) निन्दनीय इन्द्रियों की रूचि के वश से अद्वैत में भी द्वैतरूप प्रवर्तित होते हुए रूचिकर और अरूचिकर विषयों में रागद्वेष को करके अति प्रचुर, जल-समूह के

वेग से प्रहार को प्राप्त (खण्डों को प्राप्त) सेतुबंध (पुल) की भाँति (रागद्वेष रूप) दो भागों में खण्डित हआ अत्यंत क्षोभ को प्राप्त होता है। इस कारण मोह, राग और द्वेष के भेद से मोह तीन प्रकार का है।

**समीक्षा**—इस गाथा में आचार्य श्री ने कर्म सप्ताट मोह के स्वभाव उसके कार्य एवं भेद का वर्णन किया है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रथम इकाई स्वरूप सम्यग्दर्शन का धातक, तत्वार्थ श्रद्धान को विपरीत करने वाला, ज्ञान को वैभाविक करने वाला जिसके सद्भाव में समस्त चारित्र, तप त्यागादि मोक्ष के लिए अकिञ्चित्कर हो जाते हैं ऐसा है मोह कर्म। राजवार्तिक में मिथ्यात्व की परिभाषा निम्न प्रकार दी है—

तत्र तस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुख तत्वार्थश्रद्धाननिरूप्तस्को हिताहितविभागऽसमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम् ।

जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से पराङ्मुख तत्वार्थश्रद्धान से निरूप्तसुक हिताहित का विभाग करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में मिथ्यात्व परणति का कारण तथा उसके भेद का सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं णु तच्च अट्ठाणं ।  
एयंतं विवरीयं विण्यं संसइदमण्णाणं । (15) । प्र४६

दर्शनमोहनीय के भेद मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के मिथ्यात्व होता है जिसका लक्षण अतत्वश्रद्धान है। वह मिथ्यात्व एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान के भेद से पाँच प्रकार है। उसमें से जीवादि वस्तु सर्वथा सत् ही है, या सर्वथा असत् ही है, या सर्वथा एक ही है या सर्वथा अनेक ही है। इत्यादि प्रतिपक्ष से निरपेक्ष एकान्त अभिप्राय को एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। अहिंसा आदि लक्षण वाले समीचीन धर्म का फल स्वर्ग आदि का सुख है, उसको हिंसा आदि रूपयज्ञ का फल मानना, जीव के प्रमाण सिद्ध मोक्ष का निराकरण करना, प्रमाण से बाधित स्त्री मुक्ति का अस्तित्व बतलाना, इत्यादि एकान्त का अवलम्बन करते हुए जो विपरीत अभिनिवेश है वह विपरीत मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की अपेक्षा न करके गुरु के चरणों की पूजा आदि रूप विनय के द्वारा ही मुक्ति होती है इस प्रकार का श्रद्धान वैनियिक

मिथ्यात्व है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से गृहीत अर्थ का देशान्तर और कालान्तर में व्यभिचार सम्भव होने से परस्पर विरोधी आप्त के वचन भी प्रमाण नहीं होते, इसलिए 'यही तत्व है' इस प्रकार का निर्णय करना शक्य न होने से सर्वत्र संशय ही है। इस प्रकार का अभिप्राय संशय मिथ्यात्व है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के तीव्र उदय से आक्रान्त एकेन्द्रिय आदि जीवों का 'वस्तु अनेकान्तात्मक है' इस प्रकार वस्तु सामान्य में और जीव का लक्षण उपयोग है इस प्रकार वस्तु विशेष में जो अज्ञान मूलक श्रद्धान है वह अज्ञान मिथ्यात्व है। इस प्रकार स्थूल अंश के आश्रय से मिथ्यात्व के पाँच भेद कहे। सूक्ष्म अंश के आश्रय से असंख्यात लोक मात्र भेद हो सकते हैं किन्तु उनका व्यवहार सम्भव नहीं है।

मिच्छतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।

ण य धर्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो । (17)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्वश्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसंद नहीं करता। इसमें दृष्टांत देते हैं जैसे पित ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसंद नहीं करता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता।

मिच्छाट्ठी जीवो उवइट्टं पववणं ण सद्दहदि ।  
सद्दहदि असब्भावं उवइट्टं वा अणुवइट्टं । (18)

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप-प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा जाता है व प्रवचन अर्थात् पदार्थ। इन निरुक्तियों से प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं। तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है। परमात्म प्रकाश में कहा भी है—

पञ्जय-रत्तउ-जीवडउ मिच्छादिट्ठ हवेइ ।

बंधइ बहु-विह कम्मडा जे संसारू भमेइ । (77)पृ. 75

पञ्जयस्तु जीवडउ मिच्छादिट्ठ हवेइ पर्यायरत्तो जीवो मिथ्यादृष्टि-  
भवति परमात्मानुभूतिरूचिप्रतिपक्षभूताभिनेवेशरुपा व्यावहारिकमूढत्रयादिपंच-  
विंशति मलान्तर्भाविनी मिथ्या वितथा व्यलीका च सा दृष्टिरभिग्रायो रुचिः  
प्रत्ययःश्रद्धान् यस्य स भवति मिथ्यादृष्टिः। स च किंविशिष्टः। नरनारकादि  
विभावपर्यायरतः तस्य मिथ्यापरिणामस्य फलं कथ्यते। बंधइ बहुविह कम्पडा जें  
संसारु भमेइ बधाति बहुविधकर्मणि यैः संसार भमीत, येन मिथ्यात्वपरिणामेन  
शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्मणि बधाति तैश्च कर्मभिर्द्वयक्षेत्र-  
कालभवभावरूपं पंचप्रकार संसार परिभ्रमतीति। तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते निश्चय  
मिथ्यादृष्टिलक्षणम्

“जो पुणु परदव्यरओ मिच्छाइटी हवई सो साहु।  
मिच्छतपरिणदो उण बज्ञादि दुड्डुकम्पेहिं ॥”

पुनश्चोक्तं तैख— “जे पञ्जऐसु णिरदा जीवा परसमझग ति णिद्द्वा।  
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेयव्वा ॥”

अत्र स्वसंवित्तिरूपाद्वीतरागसम्यववात् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति  
भावार्थः।

गाथार्थ—शरीर आदि पर्याय में लीन हुआ जो अज्ञानी है, वह मिथ्यादृष्टि  
होता है, और फिर वह अनेक प्रकार के कर्मों को बांधता है, जिनसे कि संसार  
भ्रमण करता है।

टीकार्थ—परमात्मा की अनुभूतिरूप श्रद्धा से विमुख जो आठ मद आठ  
मल छह अनायतन, तीन मूढ़ता, इन पच्चीस दोषोंकर सहित अतत्त्वश्रद्धानरूप  
मिथ्यात्व परिणाम जिसके हैं, वह मिथ्यादृष्टि कहताता है। वह मिथ्यादृष्टि नर  
नारकादि विभावपर्यायों में लीन रहता है। उस मिथ्यात्व परिणाम से शुद्धात्मा के  
अनुभव से पराडमुख अनेक तरह के कर्मों को बांधता है, जिनसे कि द्रव्य, क्षेत्र,  
काल, भव, भाव रूपी पांच प्रकार के संसार में भटकता है, ऐसा कोई शरीर नहीं,  
जो इसने न धारण किया हो, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, कि जहां न उपजा हो, और  
मरण न किया हो, ऐसा कोई काल नहीं है, कि जिसमें इसने जन्म-मरण न किये  
हो, ऐसा कोई भव नहीं, जो इसने पाया न हो, और ऐसे अशुद्ध भाव नहीं है, जो  
इसके न हुए हो। इस तरह अन्त परावर्तन इसने किये हैं। ऐसा ही कथन मोक्ष

पाहुड में निश्चय मिथ्यादृष्टि के लक्षण में श्री कुंदकुंदाचार्य ने कहा है— “जो  
पुण” इत्यादि। इसका अर्थ यह है, कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म,  
नोकर्म रूप परदव्य में लीन हो रहे हैं, वे साधु के व्रत धारण करने पर भी  
मिथ्यादृष्टि ही है, सम्यग्दृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःख देने वाले आठ  
कर्मों को बांधते हैं। फिर भी आचार्य ने ही मोक्ष पाहुड में कहा है—“जे  
पञ्जयेसु” इत्यादि उसका अर्थ यह है, कि जो नर नारकादि पर्यायों में मग्न हो  
रहे हैं, वे जीव पर्याय में रत मिथ्यादृष्टि है, ऐसा भगवान् ने कहा है, और जो  
उपयोग लक्षणरूप निजभाव में तिष्ठ रहे हैं, वे स्वसमयरूप सम्यग्दृष्टि है, ऐसा  
जानो। सारांश यह है, कि जो परपर्याय में रत है, वे तो पर समय (मिथ्यादृष्टि) हैं,  
और जो आत्म-स्वभाव में लगे हुए हैं, वे स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) है, मिथ्यादृष्टि  
नहीं हैं।

जित मिच्छते परिणमित विवरित तत्त्व मुणेइ।

कम्प-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ। (79)पृ.77

यह जीव अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणत हुआ, आत्मा को आदि लेकर तत्वों के  
स्वरूप को अन्य का अन्य श्रद्धान करता है, यथार्थ नहीं जानता। वस्तु का स्वरूप  
तो जैसा है वैसा ही है, तो भी वह मिथ्यात्वी जीव वस्तु के स्वरूप को विपरीत  
जानता है, अपना जो शुद्ध ज्ञानादि सहित स्वरूप है, उसको मिथ्यात्व रागादिरूप  
जानता है। उससे क्या करता है? कर्मोंकर रचे गये जो शरीरादि परभाव हैं  
उनको अपने कहता है, अर्थात् भेदविज्ञान के अभाव से गोरा, श्याम, स्थूल, कृश  
इत्यादि कर्मजनित देह के स्वरूप को अपना जानता है, इसी से संसार में भ्रमण  
करता है।

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं जि विभिण्णउ वण्णु।

हउं तणु-अंगऊ थूलु हउं एहउं मूढउ मण्णु(80)

मैं गोरा हूं मैं काला हूं मैं ही अनेक वर्णमाला हूं मैं कृश शरीरवाला हूं  
मैं मोटा हूं इस प्रकार मिथ्यात्व परिणामकर परिणत मिथ्यादृष्टि जीव को तू मूढ  
मान।

हउं वरु वंभणु वइसु हउं हउं खत्तिउ हउं सेसु।

पुरिसु णउंसर इत्यि हउं भण्णइ मूहु विसेसु। (81)

मिथ्यादृष्टि अपने को ऐसा विशेष मानता है, कि मैं सबसे श्रेष्ठ बाह्यण हूँ मैं वर्णिक हूँ मैं क्षत्रिय हूँ मैं इनके सिवाय शद्र हूँ मैं पुरुष हूँ और स्त्री हूँ। इस प्रकार शरीर के भावों को मूर्ख अपने मानता है। सो ये सब शरीर के हैं, आत्मा के नहीं हैं।

तरुणउ बूढउ रुयडउ सूरउ पंडित दिव्यु ।  
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्यु । (82)

मैं जवान हूँ बुद्धा हूँ रुपवान् हूँ शूरवीर हूँ पंडित हूँ सबसे श्रेष्ठ हूँ दिगंबर हूँ बौद्धमत का आचार्य हूँ और मैं श्वेताम्बर हूँ इत्यादि सब शरीर के भेदों को मूर्ख अपने मानता है। ये भेद जीव के नहीं हैं।

जणणी जणणु वि कंत घरु पतु वि मितु वि दव्यु ।  
माया जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्यु । (83)

माता, पिता और स्त्री, घर, बेटा, बेटी, मित्र वगैरह सब कुटुम्बीजन बहिन भानजी, नाना, मामा, भाई, बन्धु और रलमाणिक मोती सुवर्ण चांदी धन-धान्य, द्विपदत्वादी धाय-नौकर चौपाये गाय बैल घोड़ी ऊंट हाथी रथ पालकी वहली, ये सर्व असत्य हैं, कर्म जनित है, तो भी अज्ञानी जीव अपने मानता है।

दुःखहं कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।  
मिच्छाइट्ठित जीवडउ इत्यु ण काइं करेइ । (84)

दुःख के कारण जो पांच इन्द्रियों के विषय है, उनको सुख के कारण जानकर रमण करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव इस संसार में क्या पाप नहीं करता? सभी पाप करता है, अर्थात् जीवों की हिंसा करता है।

झूठ बोलता है, दूसरे का धन हरता है, दूसरे की स्त्री सेवन करता है, अति तृष्णा करता है, बहुत आरंभ करता है, खेती करता है, खोटे-खोटे व्यसन सेवता है, जो न करने के काम हैं, उनको भी करता है।

छहडाला में पं. दौलतराम ने कहा थी है—  
जीवादि प्रयोजन भूत तत्व सरथै तिनमाहि विपर्ययत्व ।  
चेतनको है उपयोगरूप, विन मूरति चिनमूरति अनूप ॥  
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतै न्यारी है जीव चाल ।  
ताकों न जान विपरीत मान, करि कर देह में निज पिछान ॥

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव ।  
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरुप सुभग मूरख प्रतीव ॥  
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।  
रागादि प्रगट जे दुःख दैन, तिनही को सवेत गिनत चैन ॥

**मिथ्यात्व की शक्ति—** मिथ्यात्व कर्म की शक्ति (अनुभाग) तथा स्थिति सम्पूर्ण मूलप्रकृति एवं उत्तर प्रकृति से अधिक है। इसलिए तो मिथ्यात्व को अनंत संसार का कारण होने से अनंत कहा है। यथा “अनंत संसार कारणत्वात् अनन्त मिथ्यात्वं”।

जय धवला में वीरसेन स्वामी ने कहा थी है—

सव्यतिव्वाणुभागा मिच्छतस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा अणंता-  
णुबंधीणमण्णदरा उक्कस्साणु माणुदीरण तुल्ला अणंत गुण हीणा ॥

ज.ध.पु 11, 123-124

सबसे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सबसे तीव्र शक्ति से संयुक्त है। उससे अनंतानुबंधियों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान हो कर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंत गुणी हीन है।

**शंका—** मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग सबसे तीव्र क्यों है?

**समाधान—** “सव्यदव्यं विसय सद्दहण गुण पडिबंधितादा ज.ध.पु 11पृ.123

सर्व द्रव्य विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है।

मिच्छतपच्चयो खलु बंधो उवसाम यस्स बोधव्वो ।

उवसंते सासणे तेण परं होदि भयणिज्जो । (धवला)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है। अर्थात् मिथ्यात्व को प्राप्त मिथ्यादृष्टि जीव को मिथ्यात्व सम्बन्धी बंध होता है परन्तु अन्य गुणस्थान-वर्ती को नहीं होता है। केवल मिथ्यात्व कर्म की शक्ति अनन्तानुबन्धी आदि कषाय से या कर्म से अधिक नहीं किन्तु स्थिति भी सब कर्म से अधिक है। चारित्र मोहनीय (राग द्वेष) की स्थिति 40 कोटा कोटि सागर है परन्तु मिथ्यात्व की स्थिति 70 कोटा कोटि सागर है। गोम्पटसार कर्मकाण्ड में मिथ्यात्व प्रकृति

को भी सर्वधाती एवं ध्रुवोदयी बताया गया है अर्थात् यह प्रकृति जब तक व्युच्छित नहीं होती है तब तक उदय में रहती है इसलिये ध्रुवोदयी है और यह जीव के अनुजीवी गुणों को अर्थात् सम्यक्त्व गुणों को पूर्णरूप से घातती है इसलिये इसे सर्वधाती कहते हैं।

केवलज्ञानावरणं दंसणछवकं कसायबारसंयं  
मिच्छं च सर्वधादी सम्मामिच्छं अबंधमि । (39) पृ.36

धाति कर्म, सर्वधाती और देशधाती होते हैं। उनमें-से सर्वधाती कहते हैं—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, स्त्यानगृद्धि आदि पांच, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्वकर्म ये बीस सर्वधाती हैं। सम्यग्मिथ्यात्व बन्धप्रकृति नहीं है। अतः उदय और सत्त्व में ही जात्यान्तर सर्वधाती है।

इस गाथा(83) में कुंद-कुंद देव ने मुख्यतः मोहनीय कर्म के 3 भेद बताये हैं। परन्तु विशेष रूप से इसके 28 भेद भी हैं। यथा—

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व भेदतः ।  
क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुबन्धिनः(27)  
तथा च एव चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञिकाः ।  
प्रत्याख्यान रुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः(28)  
हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया ।  
नारीपुण्डवेदाश्चय मोह प्रकृतयः स्मृताः (29) तसा.अ.5 पृ.147

मोहनीय कर्म की मूल में दो प्रकृतियां हैं—(1) दर्शन मोहनीय (2) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के 3 भेद हैं—1, मिथ्यात्व प्रकृति 2, सम्यक्त्व प्रकृति 3, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति। चारित्र मोहनीय के भी क्षय वेदनीय और नो क्षय वेदनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। क्षय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी क्रोध, क्षय वेदनीय की हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद की अपेक्षा नौ भेद हैं। सब मिलाकर मोहनीय कर्म के अट्टाईस भेद होते हैं।

दिग्म्बर जैन परम्परा का सर्वेत्रेष्ठ ग्रन्थ धबला सिद्धान्त में आचार्य वीरसेन स्वामी ने इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार किया है—वह मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ॥ 91 ॥ (छक्खंडागमे वगणा खंड 5-5-91 पृ.357)

जो मोहित करता है वह मोहनीय नामक द्रव्यकर्म है। आप, आग और पदार्थों में जो प्रत्यय, रुचि, श्रद्धा, और दर्शन होता है उसका नाम दर्शन है। उसको मोहित करने वाला अर्थात् उससे विपरीत भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म दर्शन मोहनीय कहलाता है। राग का न होना चारित्र है। उसे मोहित करने वाला अर्थात् उससे विपरीत भाव को, उत्पन्न करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय कहलाता है।

जो दर्शन मोहनीय कर्म है वह बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का है (92)

क्योंकि, उसके बन्ध के कारण बहुत नहीं है। कारण के भेद से ही कार्य में भेद होता है, अन्यथा नहीं होता। इसीलिए दर्शन-मोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का ही है, यह सिद्ध है।

किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकार का है—मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व प्रकृति।

शंका—जो मोहनीय कर्म बन्ध काल में एक प्रकार का है वह सत्त्व अवस्था में तीन प्रकार का कैसे हो जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दला जाने वाला एक ही प्रकार का कोदो द्रव्य एक काल में एक क्रिया विशेष के द्वारा चावल आधे चावल और कोदों, इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना चाहिए।

शंका—यहां क्रिया युक्त जाते (एक प्रकार की चक्की) के सम्बन्ध से उस प्रकार का परिणमन भले ही हो जावे, किन्तु यहां वैसा नहीं हो सकता?

समाधान—नहीं, क्योंकि यहां पर भी अनिवृत्तिकरण सहित जीव के सम्बन्ध से एक प्रकार के मोहनीय का तीन प्रकार परिणमन होने में कोई विरोध नहीं आता।

उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारण भूत कर्म सम्यक्त्व कहलाता है।

शंका—इस कर्म की सम्यक्त्व संज्ञा कैसे हैं?

समाधान—सम्यक्त्व का सहचारी होने से।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप दोनों भावों के संयोग से उत्पन्न हुये भाव का उत्पादक कर्म सम्यग्मिथ्यात्व कहलाता है।

शंका—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप इन दो विरुद्ध भावों की एक जीव द्रव्य में एक साथ वृत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान—नहीं क्योंकि—(?), के समान उक्त दोनों भावों के कथचित् जात्यन्तर भूत संयोग के होने में कोई विरोध नहीं है।

आप, आगम, और पदार्थों में अश्रद्धा को उत्पन्न करने वाला कर्म मिथ्यात्व कहलाता है इस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है।

जो चारित्र मोहनीय कर्म है वह दो प्रकार का है  
कषाय वेदनीय और नो कषाय वेदनीय(94)

जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है वह कषाय वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव नो कषाय का वेदन करता है वह नो कषाय वेदनीय कर्म है। सुख और दुःख रूपी धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी क्षेत्र को जो कृष्टे हैं अर्थात् जोतते हैं वे कषाय हैं। ईषत् कषायों को नो कषाय कहा जाता है।

शंका—नो कषायों में अल्प रूपता किस कारण से है?

समाधान—स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध की अपेक्षा उनमें अल्परूपता है। तथा कषायों से नो कषाय अल्प हैं क्योंकि क्षपक श्रेणी में नो कषायों के उदय का अभाव हो जाने पर तत्पश्चात् कषायों के उदय का विनाश होता है।

अथवा नोकषायों का उदय काल के अनुबन्ध काल को देखते हुए कषायों के उदय का अनुबन्ध काल अनन्त गुणा उपलब्ध होता है, इस कारण भी नो कषायों की अल्पता जानी जाती है।

शंका—कषायों का उदय काल अन्तर्मुहूर्त है, परन्तु नो कषायों का उदय काल अनन्त है, इस कारण नो कषायों की अपेक्षा कषायों में ही स्तोकपना है। इसीलिये इनकी उससे विपरीत संज्ञा व्यायों नहीं स्वीकार की गई है?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस प्रकार की यहां विवज्ञा नहीं है।

जो कषाय वेदनीय कर्म है वह सोलह प्रकार का है—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, संज्वलन, माया, संज्वलन, लोभ संज्वलन (95)

जो क्रोध, मान, माया और लोभ सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्र का विनाश करते हैं तथा जो अनन्त भव के अनुबन्धन वाले स्वभाव वाले होते हैं वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। अथवा अनन्त भव में जिनका अनुबंध चला जाता है वे अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। ‘ईषत् प्रत्याख्यानं अप्रत्याख्यान’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार अणुवतों की अप्रत्याख्यान संज्ञा है, अप्रत्याख्यान का आवरण करने वाला कर्म अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म है। प्रत्याख्यान का अर्थ महावत है। उनका आवरण करने वाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय कर्म है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार प्रकार का है। जो सम्यक् अर्थात् शोभन रूप से ‘ज्वलित’ अर्थात् प्रकाशित होता है, वह संज्वलन कषाय है।

शंका—यह सम्यक् पना कैसे है?

समाधान—रलत्रय का विरोधी न होने से।

शंका—क्रोध, मान, माया और लोभ में से प्रत्येक पद के साथ संज्वलन शब्द का निर्देश किस लिये किया गया है?

समाधान—इनके बन्ध और उदय का विनाश, शब्द-पृथक् होता है, पहली तीन कषायों के चतुर्थ के समान इनका युगपत विनाश नहीं होता, इस बात का

ज्ञान करने के लिये क्रोधादि प्रत्येक पद के साथ संज्वलन पद का निर्देश किया गया है।

जो नो कषाय वेदनीय कर्म है वह नौ प्रकार का है—स्त्री वेदपुरुष वेद नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ॥96॥

जिस कर्म के उदय से पुरुष विषयक अभिलाषा होती है वह स्त्री वेद कर्म है। जिस कर्म के उदय से मनुष्य की स्त्रियों में अभिलाषा उत्पन्न होती है वह पुरुष वेद कर्म है। जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष उभय विषयक अभिलाषा उत्पन्न होती है वह नपुंसक वेद कर्म है। जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार का परिहास उत्पन्न होता है वह हास्य कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीवों की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में रति उत्पन्न होती है वह रति कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीवों की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में अरति उत्पन्न होती है वह अरति कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीवों को शोक उत्पन्न होता है वह शोक कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव के सात प्रकार का भय उत्पन्न होता है वह भय कर्म है। जिस कर्म के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में विचिकित्सा उत्पन्न होती है वह जुगुप्सा कर्म है।

शंका—करूणा का कारणभूत करूणा कर्म है ऐसा 'क्यों नहीं कहा।

समाधान—नहीं, क्योंकि करूणा जीव का स्वभाव है अतएव उसे कर्म जनित मान ने विरोध आता है।

शंका—तो फिर अकरूणा का कारण कर्म कहना चाहिए?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे संयमधाती कर्मों के फल रूप से स्वीकार किया गया है।

नो कषाय वेदनीय की इतनी प्रकृतियां होती हैं। (97)

नौ ही नो-कषाय प्रकृतियां होती हैं, क्योंकि दस आदि प्रकृतियां सम्भव नहीं हैं।

### अध्याय - 3

## मिथ्यात्व से बंधने योग्य प्रकृतियां

स्वयं मिथ्यात्व कर्म तो महान शक्तिशाली है ही परन्तु मिथ्यात्व से उपार्जित कर्मों की शक्ति अन्य कर्म से उपार्जित शक्ति से भी अधिक है क्योंकि जो स्वयं शक्तिशाली होता है वह शक्तिशाली कार्य कर सकता है।

परमात्म प्रकाश में कहा है—

अथ मिथ्यात्वोपार्जित कर्मशक्तिं कथयति—आगे मिथ्यात्वकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मों से यह जीव संसार-वनमें भ्रमता है, उस कर्मशक्ति को कहते हैं—

कम्मइं दिढ़-घण चिक्कणइं गरुवइं वज्ज समाइं  
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइ ॥78॥

वे ज्ञानावरणादि कर्म ज्ञानादि गुण से चतुर इस जीवको खोटे मार्ग में पटकते (डालते) हैं। कैसे है, वे कर्म बलवान हैं, बहुत हैं, विनाश करने को अशक्य हैं, इसलिये चिकने हैं, भारी हैं और वज्र के समान अभेद्य हैं।

कम्मइं दिढ़घणचिक्कणइं गरुवइं वज्जसमाइं कर्माणि भवन्ति ।

किविशिष्टानि । दृढानि बलिष्ठानि घनानि निविडानि चिक्कणान्यप्ने-  
तुमशक्यानि विनाशियतुमशक्यानि गुरुकाणि महान्ति वज्जसमान्यभेद्यानि च ।  
इत्यंभूतानि कर्माणि किं कुर्वन्ति । णाणवियक्खणु जिवडउ उप्पहि पाडहिं ताइ  
ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयन्ति । तानि कर्माणि युगपल्लोकालोकप्रकाशक-  
केवलज्ञानाद्यनन्तगुणविचक्षणं दक्षं जीवमभेदरलत्रयलक्षणानिश्चयमोक्षमार्गात्मति  
पक्षभूत उन्मार्गे पातयन्तीति ।

यह जीव एक समय में लोकालोक के प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिका अनंत गुणों से बुद्धिमान चतुर है तो भी इस जीव को वे संसार के कारण कर्म ज्ञानादि गुणों का आच्छादन करके अभेदरलत्रयरूप निश्चयमोक्ष मार्ग से विपरीत खोटे मार्ग में डालते हैं, अर्थात् मोक्ष-मार्ग से भूलाकर भव वन में भटकते हैं।

गोम्मट्सार कर्मकाण्ड में किन-किन गुणस्थानों के अंत में किन-किन प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती है इसका वर्णन किया गया है जिस गुणस्थान के अंत में जिन प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती है उस गुणस्थान तक उसका बंध होता है उसके बाद उनका बंध नहीं होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में निम्नलिखित 16 प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती है।

अनन्तरं मिथ्यादृष्टियोडश बंध व्युच्छिति प्रकृति गळं पेल्दपरु—  
मिच्छत्तहुंडसंढा संपत्तेयक्खथावरादावं ।  
सुहुमतियं वियलिदी णिरयदुणिरया उंग मिच्छे ॥95 ॥ पृ. 769

उन सोलह आदि व्युच्छिति प्रकृतियों को कहते हैं—

मिथ्यात्वं हुंडसंस्थानं षण्ठवेदः असंप्राप्तसृपाटिकासंहननं एकेन्द्रियं स्थावरातपः सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणनि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणि नरकगतिदानुपूर्वे नरकायुश्चेति षोडेश केवल मिथ्यात्वोदय हेतु बन्धत्वात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान चरमसमये एव व्युच्छिद्वन्ते ।

मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु ये सोलह प्रकृतियां केवल मिथ्यात्व के उदय के कारण ही बंधती हैं। अतः मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में ही ये व्युच्छिन होती हैं।

ध्वला में वीरसेन स्वामी ने मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन 16 प्रकृतियों का बंध होता है उसका स्पष्ट निर्देश निम्न प्रकार से किया है—

मिच्छत्त- णवुंसयवेद- णिरयाऽ-णिरयगइ- एङ्दिय- बेइंदिय- तीइंदियचउरिदियादि- हुंडसंठाण- असंपत्तसेवट्ट सरीर संघडण- णिरयगइपाओगगाणुपुच्चि आदावथावर- सुहुम- अपज्जत्त- साहारणसञ्चरीरणमाणं को बंधो को अबंधो ?

पुस्तक 8 (पृ. 42-सू. 15)

मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण शरीर नामकर्म का कौन बन्धक है और कौन अबन्धक है?

मिच्छाइटीटी बंधा । एदे बंधा, अवसेसा अबंधा । (16)(पृ. 43)

मिथ्यादृष्टि जीव बन्धक है । ये बन्धक हैं, शेष जीव अबन्धक हैं ।

मिच्छत्तस्स बंधोदया समं वोच्छिज्जंति, मिच्छाइट्ट चरिमसमए बंधोदय- वोच्छेददंसणादो ।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय में इसके बन्ध और उदय का व्युच्छेद देखा जाता है ।

तत्र मिथ्यात्वप्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरः शेषे ।

(25)(पृ. 528 रा. वा.)

तत्र मिथ्यात्वप्राधान्येन यत्कर्मस्त्रवति तन्निरोधात् शेषे सासादन सम्यग् दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति । किं पुनस्तत्? मिथ्यात्वनपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येक- द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानाऽसंप्राप्तसृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्याऽ- जतपस्थावर सूक्ष्माऽपर्याप्तकसाधारणशरीर संज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम् ।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से होने वाले कर्मों का मिथ्यात्व के अभाव में संवर हो जाता है। मिथ्यात्व की प्रधानता से जो कर्म आते हैं, मिथ्यात्व का निरोध हो जाने से उन कर्म प्रकृतियों का शेष सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में आस्तव रूक जाता है, संवर हो जाता है। प्रश्न-मिथ्यात्व निमित्तक बंधने वाली कर्म-प्रकृति कौन-कौन सी हैं? उत्तर-मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, नरकगति- प्रायोग्यानुपूर्वी आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर, ये सोलह प्रकृतियां मिथ्यात्व के निमित्त से बंधती हैं। मिथ्यात्व के सम्बन्ध से मिथ्यात्व के उदय से ही इनका बन्ध होता है, अतः मिथ्यात्व के अभाव में इन प्रकृतियों का बंध रूक जाता है।

गोमटसार के 95 वीं गाथा की संस्कृत टीका में दिया गया यह — “घोडश केवलमिथ्यात्वोदयहेतुबन्धत्वात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान चरम समये एवं व्युच्छिद्याने ।” विषय अत्यंत विचारणीय है। उपरोक्त 16 प्रकृतियां मिथ्यात्व के उदय के कारण ही बंधती हैं। इसीलिये इनकी बंध व्युच्छिति मिथ्यात्व गुणस्थान के अंतिम समय में हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व के कारण इन प्रकृतियों का बंध होता है। और मिथ्यात्व के अभाव से इन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। ‘कर्माणि उदय प्राप्ता भवन्ति बन्धहेतवः’ अर्थात् कर्म जब उदय में आते हैं तब कर्म बंध के लिए कारण बनते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मिथ्यात्व कर्मोदय से जो वैभाविक परिणाम होता है उससे 16 प्रकृतियों का बंध होता है। अन्यथा मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में भी इन गुणस्थानों का बंध हो सकता था परन्तु अन्य गुणस्थानों में इन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन के सद्भाव से किन-किन गतियों की किन-किन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होता है कहा है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ् नपुंसकस्त्वानि ।  
दुष्कुलविकृतात्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः । (35) पृ. 74

सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी नारक, तिर्यन्च, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीच कुल विकलांग अवस्था, अल्प आयु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होगे।

मिथ्यादर्शन के अभाव से व्रत से रहित होता हुआ भी सम्यग्दृष्टि किन-किन अवस्थाओं को प्राप्त करता है इसका वर्णन निम्न प्रकार से है—

ओजस्तेजोविद्यावीर्यशोवृद्धि विजयविभवसनाथाः ।  
महाकुलामहार्थमानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः । (36) पृ. 76

सम्यग्दर्शन से पवित्र उत्साह, प्रताप, विद्या, पराक्रम, यश वृद्धि विजय और वैभव से सहित उच्चकुलोत्पन्न, पुरुषार्थ से सहित तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ होते हैं।

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।  
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे । (37)

सम्यग्दर्शन से सहित जिनेन्द्र भगवान् के भक्त पुरुष, स्वर्ग में देव देवियों की सभा में अणिमा आदि आठ गुण तथा शारीरिक पुष्टि अथवा अणिमादि आठ गुणों की पुष्टि से संतुष्ट और बहुत भारी शोभा से सहित होते हुए चिरकाल तक क्रीड़ा करते हैं।

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।  
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः । (38)

निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक मनुष्य ही नौ निधियों और चौदह रत्नों के स्वामी तथा राजाओं के मुकुटों सम्बन्धी कलगियों पर जिनके चरण हैं ऐसे चक्रवर्ती होते हुए चक्ररत्नको वतनि के लिये समर्थ होते हैं।

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिर्श्च नूतपादाभ्योजाः ।  
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः । (39)

सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से जीव, देवेन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्तियों तथा मुनियों के स्वामी गणधरों के द्वारा जिनके चरण कमलों की स्तुति की जाती है, जिन्होंने पदार्थ का अच्छी तरह निश्चय किया है तथा जो कर्मरूप शत्रुओं के द्वारा पीड़ित लोगों को शरण देने में निपुण हैं ऐसे धर्म चक्र के धारक तीर्थकर होते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।  
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः । (40)

सम्यग्दृष्टि जीव वृद्धावस्था से रहित, रोग से रहित, क्षय से रहित, विशिष्ट अथवा विविध बाधाओं से रहित, शोक, भय और शंका से रहित सर्वोत्कृष्ट सुख और ज्ञान के वैभव से सहित तथा द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप मल से रहित मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

देवेन्द्रचक्रमहिमानमेयमानम् राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।  
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम् लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरूपैति भव्यः । (41)

जिनेन्द्र भगवान् का भक्त सम्यग्दृष्टि पुरुष अपरिमित प्रतिष्ठा अथवा ज्ञान से सहित इन्द्र समूह की महिमा को मुकुट बद्ध राजाओं के मस्तकों से पूजनीय

चक्रवर्ती के चक्ररत्नको और समस्तलोक को नीचा करने वाले तीर्थकर के धर्म चक्र को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

छहढाला में कहा भी है—

दोषरहित गुण सहित सुधी जे, सम्यकदर्श सजै है।  
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजें हैं॥  
गेही पै गृह में न रचै ज्यों, जल तें भिन्न कमल है।  
नगरनारिको प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है॥  
प्रथम नरक विन घट्भू ज्योतिष, वान भवन घंड नारी।  
थावर विकलत्रय पशु में नहिं, उपजत सम्यक-धारी॥  
तीन लोक तिहूं कालमाहिं नहिं, दर्शनसम सुखकारी।  
सकल धरमको मूल यही इस, बिन करनी दुखकारी॥  
मोक्ष-महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।  
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥

कल्याण आलोचना में भी कहा है—

रे जीवाणं भवे संसारे संसरं बहुवारं।  
पतो ण बोहिलाहो मिच्छतविजंभपयडीहिं।(2)पृ. 180

रे जीव ! मिथ्यात्वकर्म की बढ़ी हुई प्रकृतियों के द्वारा इस अनंत जन्मरण रूप संसार में तूने अनंतवार परिभ्रमण किया परंतु अब तक तुझे रत्नत्रय की प्राप्ति कभी नहीं हुई।

संसारभमणगमणं कुणंत आराहिओ ण जिणधम्मो।  
तेणविणा वर दुक्खं पत्तोसि अणंतवाराइं।(3)

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने जिन धर्म का आराधना कभी नहीं किया और उसी जिन धर्म के बिना इस संसार में तुझे अनंतवार महादुःख प्राप्त हुए हैं।

**“मिथ्यात्व कर्म के आस्तव के हेतु”**

जो मोहनीय कर्म सम्पूर्ण कर्म में प्रधान शक्तिशाली है और आत्मा के लिए धातक है ऐसे मोहनीय कर्म के आस्तव के हेतु का भी परिज्ञान कर लेना

चाहिए क्योंकि “बिन जाने ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये।” इसलिए मोह के आस्तव का वर्णन यहां पर कर रहे हैं जिससे भव्य जीव उन-उन कारणों को त्याग कर महान् अमूल्य निधि को प्राप्त कर सकें।

केवलिश्रुतसंधानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम्।

अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि।(27)

मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मागदिशनम्।

इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्तवहेतवः। (28)

(तत्वार्थसार पृ. 117 चतुर्थाधिकार)

केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देव तथा तीर्थकरों का भी अवर्णवाद करना, मार्ग में दोष लगाना तथा उन्मार्ग-मिथ्यामार्ग का उपदेश देना ये दर्शन मोह के आस्तव के हेतु हैं।

अविद्यमान दोषों का कहना अवर्णवाद है। केवली कवलाहार करते हैं इत्यादि कहना केवली का अवर्णवाद है। शास्त्रों में मांस खाना लिखा है इत्यादि कहना श्रुत का अवर्णवाद है। ये नग्न हैं, म्लेच्छ हैं, आदि शब्दों द्वारा ऋषि, यति, मुनि और अनगर इन चार प्रकार के मुनि-समूह की निन्दा करना संघ का अवर्णवाद है। जैन धर्म में कुछ नहीं है, धारण करने वाले नास्तिक हैं तथा मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है। देव मांस खाते हैं सुरा पीते हैं, दलिदान से प्रसन्न होते हैं आदि कहना देवों का अवर्णवाद है। तीर्थकरों के अकलित् दोषों का कहना तीर्थकरों का अवर्णवाद है।

केवलिश्रुतसङ्गधर्म देवावर्णवादो दर्शन मोहस्य। (13)

केवलिश्रुत संघ धर्म और देवों का अवर्णवाद(अविद्यमान दोषों का प्रचार) दर्शन मोहनीय कर्म के आस्तव के कारण हैं। (रा.वा.पृ. 310 सू. 13 अ.6)

अंतरंग के कालुष्य दोष के कारण असद्भूत मलों (दोषों) का उद्भावन करना अवर्णवाद है। गुणवान और महत्वशालियों में अपनी बुद्धि और हृदय को कलुषता के कारण अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना अवर्णवाद है। (1)

केवलियों में पिण्डाभ्यव्यवहार (कवलाहार) जीवन आदि वचन केवली का अवर्णवाद है। केवली भोजन करते हैं, केवली कम्बल आदि दस उपकरण रखते

हैं, तूंबी पात्र आदि परिग्रह रखते हैं तथा उनके भी ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं इत्यादि कथन करने केवली का अवर्णवाद है। (8)

मांस भक्षण आदि अनवद्य का कथन श्रुत का अवर्णवाद है। मांस-मत्स्य (मछली) भक्षण करना, मधु और सुरापान करना, कामातुर को रतिदान देना और रात्रि में भोजन करना, आदि शास्त्रों में कथन है अर्थात् मांसादि के भक्षण में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना शास्त्र का अवर्णवाद है।

शूद्र है, अशुचि है आदि कहना संघ का अवर्णवाद है। ये श्रमण शूद्र हैं, सान आदि नहीं करने से मलिन शरीर वाले हैं, अशुचित हैं, दिगम्बर हैं (वस्त्र रहित हैं) निर्लल्ज हैं, इस लोक में ये दुःख का अनुभव कर रहे हैं और परलोक भी इनका नष्ट हो गया है अर्थात् परलोक में भी ये दुखी होंगे, इत्यादि वचन कहकर संघ (मुनि, आर्थिकादि) का तिरस्कार करना संघ का अवर्णवाद है।

निर्गुणत्वादि कहना धर्म का अवर्णवाद है। जिनेन्द्र द्वारा कथित धर्म निर्गुण (गुणरहित) है, इसके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कथन करना धर्म का अवर्णवाद है।

सुरा, मांस व कामसेवन आदि का दोषारोपण करना, देवों का अवर्णवाद है। देव मांस खाते हैं, सुरापान करते हैं अहित्यादि में आसक्तचित थे, इत्यादि कथन करना देवों का अवर्णवाद है।

दर्शन को मोहित करता है, वा दर्शन को मोहन करने वाला दर्शन मोह है। 'तत्वार्थ श्रद्धान् सम्यग्दर्शनं' तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण तत्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र में लिखा है। उस सम्यग्दर्शन को मोहित करने वाला या नष्ट करने वाला दर्शन मोह कहलाता है। उस दर्शन मोह रूप कर्म का इन कारणों से आस्तव होता है ऐसा जानना चाहिए।

अन्तः कलुषोषादसदभूतमलोद्धावनमवर्णवादः ॥ पिंडाभ्यवहारजीवनादि वचनं केवलिसु मांसभक्षणानवद्याभिधानंश्रुते, शुद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भाव भवनं संधे, निर्गुणत्वाधभिधानं धर्मे सुरा मांसोपसेवाद्याघोषणं देवेष्वर्णवादी बोद्धव्यः । दर्शन मोहकर्ण आस्तवः । दर्शन मोहयति मोहनमात्रं वा दर्शन मोहः कर्म तस्यागमनहेतुरित्यर्थः ॥ कथमित्याह ।

अन्तरंग की कलुषता के दास से असद्भूत मल या दोषों को प्रकट करना (झूठीबुराई करना) अवर्णवाद है। मुनियों के समान केवलज्ञानी भगवान् भी कौरे पिंड बनाकर डटकर आहार कर ही जीवित रहते हैं, द्रव्य स्त्री के भी केवल ज्ञान हो जाता है, केवली भगवान् तूंबी रखते हैं, केवली के दर्शन, ज्ञान और चारित्र का भिन्न भिन्न समय है, इत्यादि कथन करना केवलियों में अवर्णवाद है। शास्त्र में लिखा दिखाकर मांस के भक्षण को निर्दोष कहना, देवी पर चढ़ा हुआ मद्य पवित्र हो जाता है, तीव्र काम पीड़ित जीवों का मैथुन कर लेना दोषदायक नहीं है, रात्रि में भोजन करना वैध है, आपत्तिकाल में चोरी की जा सकती है, वध किया जा सकता है, इत्यादिक पाप मय चेष्टाओं को निर्दोष पुष्ट करना श्रुत में अवर्णवाद है। शुद्रपन, अपवित्रपन आदि कथन करना संघ में असद्भूत दोष प्रकट करना है। गुणरहितपना, पराधीन कारकत्व, निर्बलता सम्पादकत्व, आदि कहते हुए धर्म के सेवन करने वालों को असुर हो जाना कहना यह धर्म का अवर्णवाद है। देवता मांस खाते हैं, चन्द्र देव अहित्या पर आसक्त हुये थे, देवी मनुष्यों या स्त्री देवों का परस्पर मैथुन वर्णन करना, असुरों के सींग लम्बे दांत आदि विकृत संस्थान बखानना इत्यादिक निरूपण देवों में अवर्णवाद हुआ समझना चाहिये। यों उक्त माननीय वस्तुओं में अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्तव है। सम्यग्दर्शन को मोहित करा रहा अथवा केवल मोह कर देना यह दर्शन मोहनीय कर्म है। उस कर्म के आगमन का हेतु केवली आदि का अवर्णवादी है। यह इस सूत्र अनुसार आस्तव का अर्थ है। यहां कोई पूछता है कि उक्त सूत्र का अर्थ किस प्रकार युक्तियों से सिद्ध हुआ ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तन पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिकों को कहते हैं।

केवल्यादिषु यो वर्णवादः स्यादाश्रये (स्त्रो) नृणां ।  
स स्याददर्शनं मोहस्य तत्वाश्रद्धानकारिणः । (1)  
आस्त्रो यो हि यत्र स्याद्यदाधारे यदास्थितौ ।  
यत्प्रेणेतारि चावर्णवादः श्रद्धानधात्यसौ । (2)  
श्रोत्रियस्य यथा मद्ये तदाधारादिष्केषु च ।  
प्रतीतोऽसौ तथा तत्वे ततो दर्शनं मोहकृत । (3)

केवल ज्ञानी, शास्त्र आदि में अवलंबन लेकर जो अवर्णवाद है (पक्ष) वह जीवों के तत्वों में अश्रद्धान करने वाले दर्शन मोहनीयकर्म का आश्रवहेतु है

(साध्य) जिस कारण कि जो-जो जिसमें और जिस का आधार या आश्रय लेकर उपजे हुए पदार्थ में तथा जिस शास्त्र अनुसार श्रद्धा कर प्रतिज्ञा करने वालों जीवों में एवं जिसके बनाये हुए पदार्थ में अवर्णवाद लगाया जाता है वह उस विषय के श्रद्धान का घात कर देता है। (अन्वयव्याप्ति) जिस प्रकार कर्मकाण्डी श्रेत्रिय ब्राह्मण के मद्य में और उसके आधार भाजन में, उस मद्य के बनाने वाले आदि में वह श्रद्धान का घातक प्रतीत हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। उसी प्रकार जीव आदि तत्व या तत्वों के प्रणेता आदि में अवर्णवाद किया गया (उपनय) तिस कारण दर्शन मोहनीय कर्म का आस्तव करनेवाले केवली आदि का अवर्णवाद है। (नियमन)। यों पांच अवयव वाले अनुमान प्रमाण करके उक्त सूत्र का अर्थ युक्ति सहित पुष्ट कर दिया गया है।

यो यत्र सदाश्रये यत्प्रतिज्ञाने यत्प्रणेतरि चावर्णवादः स तत्र तदास्त्रये तत् प्रतिज्ञान तत्प्रणेतरि च श्रद्धानघात हेतुन् पुद्गलानास्तवयति, यथा श्रेत्रियस्य मद्ये तद्भाण्डे तत्प्रतिज्ञाने तत्प्रणेतरि श्रद्धानघातहेतुन्सिकादिपिधायककरादीन तथा च कस्यचिज्जीवादितत्प्रणेतरि केवलिनि तदाश्रये त श्रुते तत्प्रतिज्ञापिनि च संघे तत्प्रतिपादिते च धर्मे देवेसु चावर्णवादसंस्मात्तथेति प्रत्येतव्यम्। (श्लोक-वार्तिक भा VI पृ. 511)

जो जिसमें और जिसके आश्रय में तथा जिसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वालों में एवं जिस प्रणेता के समझाये गये पदार्थ में अवर्णवाद है वह अवर्णवाद उस प्रणेता में और उसके आश्रय में अथवा उसका आश्रय धारने वाले में तथा उसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वाले में एवं उसके प्रणयन प्राप्त में श्रद्धान होने के घातक हेतु हो रहे पुद्गलों का आस्तव कराता है। जैसे कि श्रेत्रिय ब्राह्मण के हुये मद्य (शराब) में, उसके बर्तन में, उसको अंगीकार करने वाले में और उसके प्रणेता में श्रद्धान घात के हेतु हो रहे नासिका आदि को ढकने वाले हाथ, आंख आदि का आस्तव कराते हैं (व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) यो किसी प्रकार किसी-किसी जीव आदि तत्वों के प्रणेता केवली भगवान में और उनके आश्रय हो रहे श्रुत में तथा उनके अंगीकृत संघ में एवं च उन केवली के द्वारा समझाये गये धर्म और देवों में अवर्णवाद है (उपनय)। जिस कारण से उक्त प्रतिज्ञावाक्य ठीक तिसी प्रकार है अर्थात् केवली आदि में किया गया अवर्णवाद अवश्य ही उस दोषी जीव के दर्शन मोह का आस्तव करा देता है। यो प्रतीति कर लेनी चाहिए।

कषायोदयातीत्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।(श्लोक-वा.पृ. 513 गा. 14)

कषाय के उदय से आत्मा की तीव्र परिणति हो जाना तो चारित्र मोहनीय कर्म का आस्तव हेतु है।

द्रव्यादिनिमित्तवशाल्कर्म परिपाक उदयः, चरित्र मोहयति मोहनमात्र वा मोहः । कषायस्योदया तीव्रः परिणामश्चारित्र मोहस्य कर्मण आस्तव इति सूत्रार्थः । कथमित्याह—द्रव्य, क्षेत्रादि निमित्तों के वश से कर्म का परिपाक होना उदय है

“मुह वैचित्ये” इस धातु से मोह शब्द बनाया गया है। चारित्र गुण को मोहित कर रहा अथवा चारित्र का मोह कर देना मात्र चारित्र मोह है। कषाय आत्मक पूर्व संचित कर्मों के उदय से क्रोधादि रूप तीव्र परिणति हो जाना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्तव है यों इस सूत्र का अर्थ समझा जाय। कोई यहां पूछता है कि उक्त सिद्धान्त केवल आगम के आश्रित हैं? अथवा क्या उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए कोई युक्ति भी है? यदि है। तो वह किस प्रकार है ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों को प्रस्तुत करते हैं।

तथा चारित्र मोहस्य कषायोदयतो नृणां ।

स्यातीत्र परिणामो यः ससमागम कारणं ॥(1)

यः कषायोदयातीवः परिणामःस ढौँकयेत् ।

चारित्र धातिनं भावं कामोद्रेको यथा यते: ॥(2)

कस्यचित्तदृशस्यायं विवादापनविग्रहः ।

तस्मात्तथेति निर्बाधमनुमानं प्रवतते ॥(3)

जिस प्रकार जीव के केवली आदि का अवर्णवाद कर देने से दर्शन मोह का आस्तव होता है तिसी प्रकार कषायों के उदय से हुआ जो तीव्रता को लिये हुये अभिमान, मायाचार आदि परिणाम हैं वह जीवों के चारित्र मोहनीय कर्म के समागम का कारण है (प्रतिज्ञा वाक्य) जो-जो कषायों के उदय से तीव्र परिणाम होगा वह चारित्र गुण का घात करने वाले पदार्थ का आगमन करावेगा जिस प्रकार कि पहले संयमी पुनः हो गये भ्रष्ट किसी-किसी असंयमी पुरुष के कामवेदना का तीव्र उदय हो जाना चारित्र घातक स्त्री, बाल आदि के साथ रमण करने के भाव का आस्तावक है (अन्वयव्याप्ति पूर्वक दृष्टान्त)। तिस प्रकार के कषायोदय हेतुक तीव्र परिणाम का धारी यह संसारी जीव विवाद में प्राप्त हो चुके शरीर को धार रहा हैं (उपनय) तिस कारण वह कषायवान् आत्मा तिस

प्रकार चारित्र धातक कर्म का आस्वव हेतु हो जाता है (निगमन) इस प्रकार बाधा रहित यह अनुमान प्रवर्त रहा है जो कि सूत्रोक्त आगम वाक्य का समर्थक है।

कषायोदयातीत्र परिणामो विवादापनश्चारित्र मोह हेतु पुद्गल समागम कारणं जीवस्य कषायोदय हेतुक तीव्र परिणामत्वात् कस्यचिधते: कामोद्रेकवत् । न साध्य साधन विकलो दृष्टान्तः, कामोद्रेके चारित्र मोह हेतु योषिदादि पुद्गल समागम कारणत्वेन व्याप्तस्य कषायोदय हेतुक तीव्र परिणामत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्

उक्त अनुमान को यों स्पष्ट कर लीजिये कि वादी प्रतिवादियों के विवाद में प्राप्त हो चुका जो कषाय के उदय से तीव्र परिणाम होना है। (पक्ष) वह जीव के चारित्र गुण के मोहने में हेतु हो रहे पुद्गलों के समागम का कारण है। (साध्यदल) पूर्व में संचित किये गये कषाय आत्मक द्रव्य कर्मों के उदय को हेतु मानकर हुये भावकर्म स्वरूप तीव्र परिणाम होने से (हेतु) चारित्र भ्रष्ट हो गये किसी यति के काम वासना के प्रबल उद्वेग समान (अन्वय दृष्टान्त)। यह रति क्रिया के तीव्र उद्रेक का दृष्टान्त जो इस अनुमान में अन्वयदृष्टान्त दिया गया है। वह साध्य और साधन से रीता नहीं है क्योंकि काम का तीव्र उद्वेग होने पर चारित्र गुण के मोहने में हेतु हो रहे स्त्री, मद्यापान, आदि पुद्गलों के समागम के कारण पने करके व्याप्त हो रहे कषायोदय हेतुक, तीव्र परिणामपने की लोक में अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। समीचीन व्याप्ति से हुआ अनुमान ठीक उतरेगा।

दर्शन मोहनीय कर्म के आस्वव के प्रत्यय (कारण) चारित्र मोहनीय कर्म के आस्वव के प्रत्यय से पृथक होने से भी सिद्ध होता है कि दर्शन मोहनीय कर्म अलग है उसका कार्य भी अलग है, उससे बंधने वाली कर्म प्रकृतियां भी अलग है। भले मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय रहती है वह भी आस्वव एवं बंध में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है एवं कथंचित् मिथ्यात्व को बांधने के लिए भी कारक बनती हो परन्तु मिथ्यात्व जो कार्य करता है वह कार्य अनन्तानुबंधी नहीं कर सकती है। ऐसी अवस्था में पं. जगनमोहन लाल शास्त्री का निम्न निष्कर्ष कितना निरस/ निरर्थक है। वे लिखते हैं—

यदि मिथ्यात्व को स्थिति अनुभाग बन्ध डालने वाला माना जायेगा तो इस मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबंधी 'अकिञ्चित्कर' हो जायेगी क्योंकि उसका कार्य मिथ्यात्व ने किया और भविष्य में कर सकेगा कोई रूकावट नहीं वह विसंगति हो जायेगी।  
(कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया पृ. 24 )

पूर्वचार्यों ने न तो अनन्तानुबंधी को 'अकिञ्चित्कर' कहा है न कि मिथ्यात्व को स्थिति अनुभाग बंध डालने में "अकिञ्चित्कर" कहा है। पूर्वचार्यों ने तो अपनी अपनी भूमिकानुसार प्रत्येक कर्म कार्य करते हैं यह कहा है। अतः हमें जो जैसे हैं उसको वैसे ही जानना चाहिए न न्यून, न अधिक, न संशय सहित, न अनध्यवसाय सहित। समंतभद्र स्वामी ने कहा भी हैं।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।

निःसन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥(1)पृ85 (द्विअधि)

जो पदार्थ को न्यूनता रहित अधिकता रहित ज्यों का त्यों विपरीतता रहित और सन्देह रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

अतएव हमें सम्यक्त्व, मिथ्यात्वादि को तथा उनकी शक्ति, कार्य प्रणाली आदि को भी जान लेना चाहिये। वीरसेन स्वामी ने ध्वला, जयध्वला में देवसेन स्वामी ने भाव संग्रह में, विद्यानन्दी स्वामी ने श्लोक वार्तिक में, नेमि चन्द्राचार्य ने गोमट्टसार में मिथ्यादृष्टि को पाप जीव एवं सम्यग्दृष्टि को पुण्य जीव कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव को तो शुभोपयोग तक नहीं होता है। इस सिद्धान्त को गोमट्टसार जीवकाण्ड से कुछ विषय उद्धत करके सिद्ध कर रहा हूँ।

जीवापुण्णा हु सम्पगुण सहिदा ।

वदसहिदाविय पावा तत्त्ववरीया हवंतिति ॥(गो.जी.पृ.862 गा. 622)

जो जीव सम्यक्त्वगुण से युक्त हैं और व्रतों से युक्त हैं वे जीव पुण्य रूप होते हैं। उनसे विपरीत लक्षणवाले अर्थात् जो न सम्यक्त्वयुक्त हैं और न व्रतों से युक्त हैं वे नियम से पाप रूप हैं।

पुण्य जीवाः सम्यक्त्व गुणयुक्ता व्रतयुक्ताश्च स्युः । तद्विपरीत लक्षणाः पाप जीवाः खलु-नियमेन ।

मिच्छाइट्टी पावाणंताणंताय सासणगुणावि ।

पल्लासंखेज्जदिमा अण अण्णदर दय मिच्छगुणा ॥

(गो.जी.गा.623 पृ. 862)

मिथ्यादृष्टि जीव पापी हैं और वे अनन्तानन्त हैं।

मिथ्यादृष्टयः पापा:-पाप जीवाः । ते चानन्तानन्ता एव इतरगुणस्थान जीव संख्योनसंसारि मात्रत्वात् सासादन गुणा अपि पापाः अनन्तानुबन्ध्यान्यतमोहययेन प्राप्त मिथ्यात्वगुणत्वात् पल्यासंख्यातैकभंग मात्राभवन्ति (4)

मिथ्यादृष्टि जीव पापी है और वे अनन्तानन्त है, क्योंकि संसारी जीवों की राशि में से शेष तेरह गुणस्थान वर्ती जीवों की संख्या घटाने पर मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या होती है। सासादन गुणस्थान वाले भी पापी हैं क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी में से किसी भी एक क्रोधादिका उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। उनकी संख्या पल्य के असंख्यात्में भाग है।

जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोति होदि पुण्णं तु ।

सुहपयडीणं द्रव्यं पावं असुहाण द्रव्यं तु ॥(गो.जी.का.643 पृ. 882)

जीव पदार्थ प्रति पादने सामान्ययेन गुणस्थानेषु मिथ्यादृष्टयः सासादनाश्च पापाजीवः । मिश्राः पुण्यपाप मिश्र जीवाः सम्यक्त्वमिथ्यात्व मिश्र परिणाम परिणतत्वात् । असंयताः सम्यक्त्वेन, देशसंयताः सम्यक्त्वेन देशवतेन च प्रमत्तादयः सम्यक्त्वेन व्रतेन च युतयत्वात् पुण्यजीवा एव इत्युक्ताः । अनन्तरं अजीव पदार्थ प्ररूपणे कर्म चये- कार्मणस्कंधे पुण्यं पापमिति अजीव पदार्थौ द्रेधा । तत्र शुभ प्रकृतीनां सद्वेद्य शुभायुर्नामगोत्राणां द्रव्यं पुण्यं भवति । अशुभानां असद्वेद्यदिसर्वा प्रशस्तप्रकृतीनां द्रव्यं तु पुनः पापं भवति ।

जीव पदार्थ सम्बन्धी सामान्य कथन के अनुसार गुणस्थानों में मिथ्यादृष्टि और सासादन तो पापी जीव हैं। मिश्र गुणस्थान वाले पुण्य पाप रूप मिश्र जीव हैं क्योंकि उनके सम्यक् मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम होते हैं। जो असंयत सम्यक्त्व से युक्त है, देश संयत सम्यक्त्व और देश व्रत से युक्त है इसलिए ये तो पुण्यात्मा जीव ही हैं और प्रमत्तादि तो पुण्यात्मा हैं ही। इसके अनन्तर अजीव पदार्थ का प्ररूपण करते हैं— कार्मण-स्कंधे पुण्यरूप भी होता है और पाप रूप भी होता है इस प्रकार अजीव पदार्थ के दो भेद हैं। उनमें साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और उच्चगोत्र ये शुभ प्रकृतियां हैं इनका द्रव्य पुण्यरूप है। असातावेदनीय आदि सब अप्रशस्त प्रकृतियों का द्रव्य पापरूप है।

सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यंगत्वात्, मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभः संक्लेशांगत्वात् ।

सम्यग्दर्शन, बह्यचर्य, हित भाषण, तपोरुचि, आदि से अनुकूल होकर रंग दिया गया आत्म प्रदेश कम्य स्वरूप योग तो शुभ योग है क्योंकि वह विशुद्धि का अंग है। अर्थात् वह शुभ योग विशुद्धि का कारण है, पूर्व विशुद्धि से उत्पन्न हुआ होने से विशुद्धि का कार्य है और स्वयं विशुद्धि स्वभाव है। तथा मिथ्यादर्शन, मैथुनप्रयोग, चोरी आदि से अनुरंजित हो रहा योग अशुभ योग समझा जाता है क्योंकि वह अशुभ योग संक्लेश का कारण और संक्लेश का कार्य तथा स्वयं संक्लेश स्वरूप होने से संक्लेश का अंग है।

विशुद्धि संक्लेशात्मकस्यैव स्वपरस्थस्य सुखा सुखस्य पुण्यपाप-स्वत्वोपपत्तेरन्यथाति प्रसंगात् । तदुक्तं विशुद्धि संक्लेशांग चेत्स्वपरस्थं सुखा सुखं । पुण्यपापास्वावो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः । (श्लोक वा.पृ.44 भाग 6)

सर्वत्र विशुद्धि और संक्लेश से पुण्य पाप के बंधो की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अपने या दूसरे में स्थित हो रहे विशुद्धि स्वरूप ही सुख दुःखो को पुण्य का आस्तवपना बनता है और अपने में या दूसरे में स्थित हो रहे संक्लेश स्वरूप ही सुख दुःखों को पाप का आस्तवपना मान लेना उचित है। अन्यथा यानी इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारों से पुण्य पापों को आस्तव की व्यवस्था करने पर तो अतिप्रसंग दोष हो जावेगा।

धर्मं जिधृक्षुभिर्हेयं मिथ्यात्वं सर्वथा तयोः ।

सहानवस्थितिर्नित्यं विरोधो यावता महान् ।

(सिद्धान्तसार पृ. 69 श्लो. ॥)

धर्म ग्रहण करने की इच्छा करने वाले पुरुषों को मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करना चाहिये। क्योंकि धर्म और मिथ्यात्व इन दोनों में सहानवस्थिति नामक महान् विरोध दोष हमेशा से है।

द्रव्यास्त्रवजमिथ्यात्वगाविरमणादिभिः ।

नूतनेनैरात्मनः श्लेषो भावबन्धस्तदात्मनः ॥

(आ. सा. पृ. 53 श्लो. 37)

कर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योगादि भावों से नूतन कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। वह भाव बंध है।

३) मर्त्ति निरुद्धम् इति विवाह प्राप्त तसी उत्तम भैरवाम्  
ज्ञात्वा तत्त्वं लोके अप्यनुभव इति गणेषु एव एव तत्त्वं ज्ञात्वा तसी  
एव ज्ञात्वा तसी तसी उत्तम एव ज्ञात्वा तसी तसी तसी तसी  
तसी । तसी वास्तव ज्ञात्वा तसी तसी तसी तसी तसी तसी तसी  
तसी तसी तसी तसी तसी तसी तसी तसी तसी तसी । तसी तसी

## अध्याय ४

# विभाव परिणाम से युक्त आत्मा ही बंध है

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।  
कम्मरजेहिं सिलिडो बंधो ति पर्लविदो समये ॥(188) । प्रसार

The soul, which has space-points, when soiled by infatuation, attachment and aversion, is clung by Karmic dust, and that is called bondage in the scripture.

अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादि परिणातात्मैव बन्धो भण्यते इत्यावेदयति-सप्रदेसो लोकाकाश प्रमितासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्वाताभ्दवति सो अप्पा स पूवाक्तक्षण आत्मा । पुनरपि किं विशिष्टः ? कसायिदो कषायितः परिणतो रंजितोः । कैः ? मोहरागदोसेहिं निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्वभावना प्रतिबन्धिभिर्मोहरागदेषैः । पुनश्च किं रूपः ? कम्मरजोभिः सिलिडो कर्मरजोभिःशिलष्टः कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल रजोभिः संश्लष्टो बधिः । बंधोत्ति पर्लविदो अभेदेनात्मैव बन्ध इति-प्ररूपितः । क्व ? समयेपरमागमे । अत्रेदं भणितं भवति-यथा वस्त्रं लोधादिद्रव्यैः कषायितं रन्जितं सम्भौष्ठादि रंगद्रव्येण रञ्जितं सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्र स्थानीय आत्मा लोधादि-द्रव्यस्थानीयमोहरागदेषैः कषायितो रञ्जितः परिणतो मञ्जीष्ठस्थानीय कर्म पुद्गलैः संशिलष्टः सम्बद्धः सन् भेदप्रभेदोपचार लक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते । कस्मात् ? अशुद्ध द्रव्य-निरूपणार्थविषयत्वादसद्भूत व्यवहारनयस्येति ।

आगे कहते हैं कि अभेदनय से बंध के कारण भूत रागादिभावों में परिणमन करने वाला आत्मा ही बंध के नाम से कहा जाता है ।

(सपदेसो सो अप्पा) प्रदेशवान वह आत्मा (मोह रागदोसेहिं कसायिदो) मोह राग द्रेषों से कषायला होता हुआ (कम्मरजेहिं) कर्मरूपी धूल से (सिलिदटो) लिपटा हुआ (बंधोत्ति) बंधरूप है, ऐसा (समये पर्लविदो) आगम में कहा है ।

लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशों को अखण्ड रूप से रखनेवाला यह आत्मा मोह भाव रहित अपने शुद्ध आत्म तत्व की भावना को रोकने वाले मोह रागद्रेष भावों से रंगा हुआ और कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलरूपी धूल से बंधा हुआ, अभेदनय से आगम में बंधरूप कहा गया है । यहां यह अभिप्राय है कि जैसे वस्त्र लोध, फिटकरी आदि द्रव्यों से कषायला होकर मंजीठ आदि रंग से रंगा हुआ अभेदनय से लाल वस्त्र कहलाता है । वैसे वस्त्र के स्थान पर में यह आत्मा लोधादि द्रव्य के स्थान में मोहरागद्रेषों से परिणमन करके मंजीठ के स्थान में कर्मपुद्गलों से बंधा हुआ वास्तव में कर्म से भिन्न है तो भी अभेदोपचार लक्षण असद्भूत व्यवहार से बंधरूप कहा जाता है, क्योंकि असद्भूत व्यवहारनय का विषय अशुद्ध द्रव्य है ।

समीक्षा—इस गाथा में आचार्य कुंद-कुंददेव ने बताया कि मोह (मिथ्यात्व) राग द्रेष से संश्लेषित आत्मा ही अशुद्ध निश्चयनय से बंध है । यहां विशेष ध्यान देने योग्य यह विषय है “कसायिदोमोहरागदोसेहिं” अर्थात् कषायितः परिणतो रंजितः । कै ? मोहरागदोसेहिं निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्व भावना प्रतिबन्धिभिर्मोहरागदेषैः । कसायिदो का अर्थ कषायला युक्त होना, संश्लेषित होना, परिणमित होना, रंजित होना, लिप्त होना आर्द्ध होना है । पुनः प्रश्न हुआ कैः मोहरागदोसेहिं अर्थात् मिथ्यात्वरूपी मोह से राग से एवं द्रेष से । इसका सीधा सरल अर्थ यह है कि मिथ्यात्व, रागद्रेष से जीव भी कषायवान होता है इसलिए मिथ्यात्व, राग-द्रेष से जीव भी कषाय है । क्रोध, मान, माया, लोभ को जो अधिकांश शास्त्र में कषाय कहा जाता है वह आगमोक्तरूढ़ शब्द है । समभिरुद्धनय का विषय भी हैं । समभिरुढ़नय का वर्णन करते हुए अमृत चन्द्रसूरि ने तत्वार्थसार में कहा भी हैं—

ज्ञेयः समभिरुढ़ोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि ।

एकस्मिन्भिरुढ़ोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः ॥ (49)

जहां शब्द नाना अर्थों का उल्लंघन कर किसी एक अर्थ में रुढ़ होता। उसे समझिरुढ़नय जानना चाहिए। जैसे 'गो' यहां 'गो' शब्द वाणी आदि अर्थों को गौणकर 'गाय' अर्थ में रुढ़ हो गया है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक के द्वितीय अधिकार में 'कषाय से स्थिति-अनुभाग बन्ध' शीर्षक में कहा गया है कि—

"बहुरि मोह के उदयते मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होय है तिन सबनि का नाम सामान्यपने कषाय है"।

अशुद्ध निश्चय नय से जीव के वैभादिक परिणाम ही भावास्त्रव एवं भावबन्ध है ऐसा वर्णन नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्य संग्रह में किया है—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पो स विण्णेओ।

भावास्त्रो जिणुतो कम्मास्त्रवं परो होदि ॥(29)

जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्त्रव होता है उस को श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्त्रव जानना चाहिये और भावास्त्रव से भिन्न ज्ञानावरणादिरूप कर्मों का जो आस्त्रव है सो द्रव्यास्त्रव है।

भावास्त्रव का स्वरूप क्या है उसका भेद-अभेद क्या है अर्थात् किसे-किसे भावास्त्रव कहते हैं इसका वर्णन निम्न गाथा में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा है—

मिच्छताविरदि प्रमाद जोग कोहादओऽथ विण्णेया।

पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदादु पुव्वस्स ॥ (30)

अब प्रथम जो भावास्त्रव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि कषाय ऐसे पांच भेद जानने चाहिये। और मिथ्यात्व आदि के क्रम से पांच, पांच, पन्द्रह तीन और चार भेद समझने चाहिए। अर्थात् मिथ्यात्व के पांच भेद, अविरति के पांच भेद, प्रमाद के पन्द्रह भेद, योग के तीन भेद और क्रोध आदि कषाय के चार भेद जानना चाहिए।

"मिच्छताविरदि प्रमाद जोग क्रोधादओ" मिथ्यात्वाविरति प्रमाद योग क्रोधादयः। अभ्यन्तरे वीतराग निजात्मतत्त्वानुभूति रूचि विषये विपरीताभिनिवेश

जनकं, बहिर्विषये तु परकीय शुद्धात्म तत्त्व प्रभृति समस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते। अभ्यन्तरे निज परमात्म स्वरूप भावनोत्पन्न परम सुखामृत रत्तिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरवतरूपा चेत्यविरतिः। अभ्यन्तरे निष्प्रमाद शुद्धात्मानुभूति चलनरूप; बहिर्विषये तु मूलोत्तर गुणमल जनकश्चेति प्रमादः। निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तराय क्षयो- पश्चमोत्पन्नो मनोवचन काय वर्गणावलम्बनः कर्मदानहेतुभूत आत्म-प्रदेश परिस्पन्दो योग इत्युच्यते। अभ्यन्तरे परमोपशम मूर्ति केवल ज्ञानाद्यनन्त गुण स्वभाव परमात्म स्वरूप क्षेभकारकः बहिर्विषये तु परेषां सम्बन्धित्वेन कूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्त लक्षणाः पन्चास्त्रवाः अथ 'अथो' 'विण्णेया' विज्ञेया ज्ञातव्याः। कतिभेदास्ते? 'पण पण पणदस तय चदु कमसो भेदा दु' पञ्चपञ्च पञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति। तथाहि 'एयंतबुद्धिदरसी विवरीओब्रह्मतावसो विण्णेओ। इंदो विय संसइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥ इति गाथा कथित लक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम्। हिंसानृतस्तेया ब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षा रूपेणाविरतिरपि पञ्च विधा। अथवा मनः सहित पञ्चेन्द्रिय प्रवृत्ति पृथिव्यादि षट्काय विराधना भेदेन द्रादशविधा। "विकहा तहा य कसाया इंदियणिदा य तह य पणयो य। चदु चदु पणमेगें हुंति पमादाहु पण्णरसा ।।" इति गाथा कथित क्रमेण पञ्चदश प्रमादाः। मनो वचन कायव्यापार भेदेन त्रिविधो योगःविस्तरेण पञ्चदशभेदो वा। क्रोधमानलोभ भेदेन कषायाश्चत्वारः; कषाय नोकषाय भेदेन पञ्चविंशति विधा वा। एते सर्वे भेदाः कस्य सम्बन्धिनः 'पुव्वस्स' पूर्व सूत्रोदितभावास्त्रवस्येत्यर्थः।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोध आदि कषाय आस्त्रव के भेद हैं। जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव रूप रूचि के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्म तत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। अन्तरंग में प्रमाद रहित शुद्ध आत्म अनुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय में मूलगुणों तथा उन्तगुणों में मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है निश्चयनय कि अपेक्षा क्रिया रहित परमात्मा है तो भी व्यवहार नय से वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोवशम से उत्पन्न मन, वचन काय वर्गणा का अवलम्बन करने वाला, कर्म वर्गणा के ग्रहण करने में कारणभूत आत्मा के प्रदेशों

का जो परिस्पन्द (संचलन) है उसको योग कहते हैं। अन्तरंग में परम-उपशम मूर्ति केवल ज्ञान आदि अनन्त, गुण स्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप क्रोध आदि कषाय हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पांच भावास्तव हैं। 'अथ' अहो 'विण्णेया' ये जानने चाहिये। इन पांच भावास्तवों के कितने भेद हैं? उन मिथ्यात्व आदि के क्रम से पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। बौद्ध मत एकान्त मिथ्यात्वी है, याज्ञिक ब्रह्माण विपरीत मिथ्यात्व के धारक है, तापस विनय मिथ्यात्वी है, इन्द्राचार्य संशयआदि मिथ्यात्वी है। और मस्करी अज्ञान मिथ्यात्वी है। इस गाथा के कथनानुसार 5 तरह का मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह और परिग्रह में इच्छा रूप अविरति भी पांच प्रकार की हैं अथवा मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति रूप 6 भेद तथा छहकाय के जीवों की विराधना रूप 6 भेद ऐसे बारह प्रकार की भी अविरति हैं। "चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं। मनो व्यापार, वचन व्यापार और काय व्यापार इस तरह योग तीन प्रकार का है, अथवा विस्तार से 16 प्रकार का है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदों से कषाय चार प्रकार के हैं। अथवा 16 कषाय और 9 नोकषाय इन भेदों से पच्चीस प्रकार के कषाय हैं। ये सब भेद पूर्व गाथानुसार भावास्तव के हैं।

आस्तवपूर्वक बंध होता है इसलिए आस्तव का वर्णन करके बंध का प्रकरण प्रारंभ करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि—

बज्ज्ञादि कर्मं जेण दु चेदण भावेण भाव बंधो सो।

कर्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥(32)

जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश अर्थात् कर्म और आत्म प्रदेशों का एकमेक होना द्रव्यबंध है।

भावबंध एवं द्रव्य बंध का सामान्य कथन करके विशेष बंध प्रक्रिया का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

एकैकात्मप्रदेशे सिद्धानन्तैकभाग संख्या अभव्यानंत गुणप्रमिता अनन्तानंत परमाणवः प्रतिक्षण बंधमायांतीति प्रदेश बंधः। इदानीं बंधकारणं कथ्यते। "जोगा पयडिपदेसा ठिदि अनुभागा कसायदो हुंति" योगात्रकृति प्रदेशौ, स्थिति अनुभागौ कषाय—तो भवत इति। तथापि—निश्चयेन निष्क्रियाणामपि शुद्धात्म प्रदेशानां व्यवहारेण परिस्पन्दन हेतु योगः तस्मात्कृति प्रदेशबंधद्वयं भवति। निर्देष परमात्म भावना प्रतिबंधक क्रोधादि कषायोदयात् स्थित्यनुभाग बंधद्वयं भवतीति। आस्त्रवे बंधे च मिथ्यात्वाविरत्यादि कारणानि समानानि को विशेषः? इति चेत्, नैव, प्रथमक्षणे कर्म स्कन्धानामागमनमास्तवः, आगमनानंतर द्वितीय क्षणादौ जीव प्रदेशेष्ववस्थानं बंध इति भेदः। यत एव योग कषायाद् बंध चतुष्टयं भवति तत एव बंध विनाशार्थं योग कषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्।

एक-एक आत्मा के प्रदेशों में सिद्धों से अनन्तेक भाग अर्थात् सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानंत परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेश बन्ध का स्वरूप है। अब बन्ध के कारण को कहते हैं— योग से प्रकृति, प्रदेश और कषाय से स्थिति अनुभाग बन्ध होते हैं। निश्चयनय से क्रिया रहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश है, व्यवहार नय से उन आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन का चलायामान करने का जो कारण है उसको योग कहते हैं। उस योग से प्रकृति, प्रदेश दो बंध होते हैं। दोष रहित परमात्मा की भावना (ध्यान) के प्रतिबंध करने वाले क्रोध आदि कषाय के उदय से स्थिति और अनुभाग ये दो बंध होते हैं। शंका-आस्तव और बंध के होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं, इसलिये आस्तव और बंध में क्या भेद हैं? उत्तर-यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्म स्कन्धों का आगमन है वह तो आस्तव है और कर्म स्कन्धों के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण में जो उन कर्म स्कन्धों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना, सो बन्ध है। यह भेद आस्तव और बन्ध में है। क्योंकि योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, और अनुभाग नामक चार बन्ध होते हैं। इस कारण बन्ध का नाश करने के लिए योग तथा कषाय का त्याग करके अपनी शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये यह तात्पर्य है।

समय सार में सामान्य से बन्ध प्रत्ययों का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्ददेव ने निम्नोक्त प्रकार कहा है—

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्ठि बंध कत्तारो ।  
मिच्छतं अविरमणं कसाय जोग य बोद्धव्वा ॥(116) कर्तृकर्माधिकार

तेसि पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।  
मिच्छादिद्टी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥(117)

वास्तव में सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के भेद से चार प्रकार के प्रत्यय हैं, ये बन्ध के करने वाले कहे गये हैं। उनके उत्तर भेद मिथ्यादृष्टि आदि सयोग केवली पर्यन्त गुणस्थान के नाम से तेरह प्रकार के होते जाते हैं।

उपरोक्त प्रकरण से मिथ्यात्व को स्वतंत्ररूप से कर्म बन्ध के लिये कारण कहा है। कुछ व्यक्ति बन्ध के लिए मिथ्यात्व को अधिकरण मानते हैं। परन्तु कारण नहीं मानते हैं। वे मिथ्यात्व को आधार (अधिकरण) मानते हैं परन्तु 'करण' नहीं मानते हैं। जब कि आगम की दृष्टि से मिथ्यात्व केवल आधार (अधिकरण) नहीं हैं परन्तु संसार के लिए अधिक-करण है, अर्थात् अधिक-कारक हैं। उन्हें मिथ्यात्व को बंध एवं आस्तव में अकिञ्चित्कर या अधिकरण सिद्ध करने के लिए द्रव्य संग्रह की "जोगा पयडिपदेसा टिठदि अणुभागा कसायदो होतिं" ॥(33) तथा अन्य कुछ ग्रन्थ के ऐसे ही वाक्यांशों को उद्धृत करके सिद्ध करते हैं कि, स्थिति एवं अनुभाग बंध कषाय से ही होता है मिथ्यात्व उसके लिए अकिञ्चित्कर है। वे समयसार की बंधाधिकार की पांचवीं गाथा देकर अपने मत को पृष्ठ करते हैं कि—

"इस प्रकार बहुत प्रकार की चेष्टाओं में वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि अपने उपयोग में रागादि भावों को करता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त होता है। टीका के अन्त में लिखा है 'अतः निश्चित हुआ कि मिथ्यादृष्टि के उपयोग में जो रागादिक हैं वहीं बंध के कारण हैं' यहां मिथ्यादृष्टि अधिकरण के रूप में हैं तथा बंध के कारण के रूप में रागादि कषाय भावों को ही बताया है। इस प्रकार आचार्यों द्वारा स्थान पर मिथ्यात्व को नय विवक्षा से अधिकरण के रूप में बन्ध

के प्रत्ययों में गिनाये जाने की अपेक्षा ज्ञात हो जाता है। बंध के साक्षात् हेतु तो योग और कषाय ही माने गये हैं।" (कर्म बन्ध और उसकी प्रक्रिया)

पं जगमोहन लाल शास्त्री

यहां पर मैं आ. कुन्दकुन्ददेव की मूलगाथा तथा आ. जयसेन की संस्कृत टीका और वर्तमान कालिन बहुचर्चित मिथ्यात्व बन्ध के क्षेत्र में अकिञ्चित्कर के विषय के आद्य प्रतिपादक आचार्य विद्यासागर के दीक्षा शिक्षा गुरु आचार्य ज्ञानसागर जी की हिन्दी टीका उद्धृत करता हूं जो कि, स्वयं के ही भावों को प्रकट करती है—

एवं मिच्छादिद्टी वट्टुंतो बहुविहासु चेडासु ।

रागादी उवओगे कुव्वंतो लिष्पदि रयेण ॥(257) समयसार बंधाधिकार

एवं मिच्छादिद्टी वट्टुंतो बहुविहासु चेडासु एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन मिथ्यादृष्टिर्जीवः विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्तमानः। रागादी उवयोगे कुव्वंतो लिष्पदि रयेण शुद्धात्म तत्त्व सम्यक् श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वणः सन् कर्मरजसा लिष्पते बध्यत इत्यर्थः। एवं यथा तैलग्रक्षितस्य रजोबन्धौ भवति तथा मिथ्यात्व रागादि परिणतस्य जीवस्य कर्मबन्धो भवति ।

एवं मिथ्यादिद्टी वट्टुंतो बहुविहासु चेडासु उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार ही मिथ्यादृष्टि जीव अर्थात् विरति रहित जीव नाना प्रकार के शारीरिक व्यापार मय चेष्टाओं में प्रवर्तमान होता है तब वहां पर वह रागादी उवयोगे कुव्वंतो लिष्पदि रयेण शुद्धात्म तत्त्व का समीचीन रूप श्रद्धान् ज्ञान और आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के न होने से मिथ्यात्व और रागादि रूप उपयोगों को अर्थात् विकारी परिणामों को करता है, वह कर्मरूप रज से लिप्त हो जाता है बन्ध जाता है ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार तैल लगाये हुए पुरुष के जैसे धूलि चिपकती है वैसे ही मिथ्यात्व तथा रागादि रूप में परिणत जीव के कर्म बन्ध होता है।

राग द्रेष के साथ-साथ मोह (मिथ्यात्व) बंध के लिए कारण है इसका स्पष्ट प्रतिपादन कुन्दकुन्ददेव ने पञ्चास्तिकाय में निम्न प्रकार से किया है—

जोग निमित्तं ग्रहणं जोगो मणवयणकाय संभूदो ।

भाव निमित्तो बंधो भावो रदि रागदोस मोह जुदो ॥(148) पृष्ठ 345

योग निमित्तेन ग्रहणं कर्म पुदगलादानं भवति योग इति कोऽर्थः? जोगे मणवयणकाय संभूदो-योगो मनोवचन काय संभूतः निष्क्रिय निर्विकार चिज्ज्योतिपरिणामभिन्नो मनोवचन काय वर्गणालंबन रूपो व्यापारः आत्म प्रदेश परिस्पन्द लक्षणो वीर्यान्तरायक्षयोपशम जनितः कर्मादान हेतुभूतो योगः । भाव निमित्तो बंधोभाव निमित्तो भवति । स कः । स्थित्यनुभाग बंधः । भावः कथ्यते— भावो रदिरागदोसमोह जुदो-रागादि दोष रहित चैतन्य प्रकाश परिणते: पृथग्भूतो मिथ्यात्वादि कषायादि दर्शन चारित्र मोहनीय त्रीणि द्वादश भेदात् भावो रति राग द्वेषमोहयुक्तः । अत्र रति शब्देन द्वृस्थाविनाभावि नोकषायान्तर्भूता रतिग्राहा, राग शब्देन तु मायालोभ रूपो राग परिणाम इति द्वेष शब्देन तु क्रोध मानारति शोक भय जुगुप्सारूपो द्वेष परिणामो षट्प्रकारो भवति, मोह शब्देन दर्शन, मोहो ग्रहाते इति । अत्र यत्रः कारणात्कर्मादान रूपेण प्रकृति प्रदेश बंध हेतुस्तनः कारणा द्विहिंग निमित्तं योगः चिरकालस्थायित्वेन स्थित्यनुभाग बंध हेतुत्वादभ्यंतर कारणं कषाया इति तात्पर्यम् । गाथार्थ—“योग के निमित्य से कर्म-प्रदलों का ग्रहण होता है । योग मनवचन, काय की क्रिया से होता है । उनका बंध भावों के निमित्य से होता है । उनका बंध भावों के निमित्य से होता है । वह भाव रति, राग, द्वेष व मोह सहित मलीन होता है ।”

टीकार्थ—क्रिया रहित व निर्विकार चैतन्य ज्योति रूप भाव से भिन्न मन, वचन, काय वर्गणा के आलम्बन से व्यापार रूप हुआ आत्म प्रदेशों का हलन चलन रूप लक्षणधारी योग है जो वीर्यातराय कर्म के क्षयोपशम से कर्मों को ग्रहण करने का हेतु होता है । रागादि दोषों से रहित चैतन्य के प्रकाश की परिणति से भिन्न जो दर्शनमोह और चारित्रमोह से उत्पन्न हुआ भाव सो रति, राग, द्वेष, मोह मिथ्यात्व युक्त भाव हैं । यहां रति शब्द से रति के अविनाभावी हास्य व स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेदरूप नोकषाय को लेना व ‘राग’ शब्द से माया व लोभरूप राग परिणाम को लेना, द्वेष शब्द से क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप ऐसे छः प्रकार के द्वेष भाव को लेना तथा ‘मोह’ शब्द से दर्शन मोह वा मिथ्यादर्शन भाव को लेना योग्य है । उन भावों से स्थिति तथा अनुभाग

बंध होते हैं । यहां बन्ध का बाहरी कारण योग है क्योंकि इस के कारण से कर्मों का ग्रहण होकर प्रकृति तथा प्रदेश बंध होते हैं । तथा कषाय भाव, अंतरंग कारण है, क्योंकि इसी कषाय भाव से कर्मों में स्थिति तथा अनुभाग पड़ते हैं जिस से बहुत काल तक कर्म पुनर्ल आत्मा के साथ ठहर जाते हैं ।

मिथ्यात्वादि-द्रव्यपर्यायाणामपि बहिरंग कारण द्वोतनमेतत्  
हेदु चदुव्यियप्तो अदृटवियप्तस्स कारणं भणिदं ।  
तेसि पिय रागादी तेसिमभावो ण बज्ज्ञाति ॥(149)

गाथार्थ—चार प्रकार मिथ्यात्वादि कारण आठ प्रकार कर्मों के बंध के कारण कहे गए हैं । तथा उन द्रव्यकर्म मिथ्यात्वादि के भी कारण रागादि भाव हैं इन रागादि भावों के न होने पर जीव नहीं बंधते हैं ।

हेदू हि-हेतुः कारणं हि स्फुटं । कति संख्योपेतः चहुवियप्तो-उदयागत मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगद्रव्य प्रत्यचरूपेण चतुर्विकल्पो भवनि । कारणं भणियं-स च द्रव्य प्रत्यय रूपश्चतुर्विकल्पो हेतुः कारणं भणितः । कस्य । अदृटावियप्तस्स रागाद्यापाधि रहित सम्यक्त्वाद्यष्टगुण सहित परमात्म स्वभाव प्रच्छादकस्य नवतराष्ट्रविध द्रव्यकर्मणः । तेसि पि य रागादी-तेषामपि रागादयः तेषां पूर्वोक्त द्रव्यप्रत्ययानां रागादि विकल्प रहित शुद्धात्म द्रव्य परिणते र्थिना जीवगतरागादयः कारणं भवन्ति । कस्मादिति चेत्? तेसिमभावे ण बज्ज्ञाते-यतः कारणातेषां जीवगत रागादि भाव प्रत्ययानामभावे द्रव्य प्रत्ययेषु विद्यमानेष्वपि सर्वेषानि षष्ठि विषयममत्वाभाव परिणता जीवा न बध्यतं इति । तथाहि-यदि जीवगत रागाद्यभावेऽपि द्रव्य प्रत्ययोदय मात्रेण बंधो भवति तर्हि सर्वदेव बंध एव । कस्मात् । संसारीणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वादिति । तस्माद् ज्ञायते नवतर द्रव्यकर्म बंधस्योदयागत द्रव्य प्रत्यया हेतवस्तेषां च जीवगतरागादयो हेतव इति । ततः स्थितं न केवलं योगा बहिरंग बंध कारणं द्रव्य प्रत्यया अपीति भावार्थः ।

उदय में प्राप्त मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, चार प्रकार द्रव्य कर्म, नवीन आठ प्रकार द्रव्य कर्म के बन्ध के कारण कहे गए हैं । जो कर्म रागादिक उपाधि से रहित व सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित परमात्म स्वभाव के ठगने वाले हैं । इन द्रव्य कर्मरूप कारण के भी कारण रागादि विकल्पों से रहित शुद्ध आत्म द्रव्य की परिणति से भिन्न जीवसंबन्धि रागादि भाव है कारकों के अभाव

होने पर उन चार द्रव्य प्रत्ययों या कारणों के रहते हुये भी जीव इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में ममता भाव से रहित है वे बन्ध को नहीं प्राप्त होते हैं। यदि जीव के रागादि भावों के बिना भी इन द्रव्य प्रत्ययों के उदय मात्र से बन्ध हो जाता हो तो सदा जीव के बन्ध ही होते रहे क्योंकि संसारी जीवों के सदा ही कर्मों का उदय रहता है। इस लिए यह जाना जाता है कि नवीन, द्रव्य कर्मों के बन्ध के कारण रहता है। इसलिए यह जाना जाता है कि नवीन, द्रव्य कर्मों के बन्ध के कारण रहता है। इसलिए यह सिद्ध उदय प्राप्त द्रव्य प्रत्यय है, उनके भी कारण रागादि भाव हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि न केवल योग ही बन्ध के बाहरी कारण हैं किन्तु द्रव्य प्रत्यय भी बन्ध के बाहरी कारण हैं।

‘अर्किचित्कर’ नामक (आचार्य विद्यासागर जी की) पुस्तक में मिथ्यात्व कथाय नहीं हैं एवं मिथ्यात्व को बन्ध एवं आस्त्रव में अर्किचित्कर सिद्ध किया हैं जैसे कि—

मिथ्यात्व के उदय में जीव कभी कथायवान नहीं होता। मिथ्यात्व के साथ विद्यमान कथाय के द्वारा ही जीव कथाय वान् होता है। मिथ्यात्व का काम कथायभाव उत्पन्न कराना है भी नहीं। इससे तो जीव में मात्र अतत्वरुचि अश्रद्धान रूप भाव ही होता है। यही कारण हैं जो सूत्रकार उमास्वामी ने ‘सकथायत्वात्’ के स्थान पर ‘से मिथ्यात्वात्’ ऐसा नहीं कहा। इस से यह भी समझना चाहिए कि, उस से कथाय परिणाम नहीं होता। (अर्किचित्कर पृ. 62)

कर्ता विभिन्न कारणों की सहायता से कार्य को करता हैं, जिससे उसे अधिकरणरूप कारण की भी आवश्यकता होती है। ध्यान रहे-अधिकरण कभी भी कर्ता या करण नहीं हुआ करता और न ही वह कोई कार्य ही करता है। कार्य तो हमेशा ‘कर्ता’ और ‘करण’ के द्वारा ही हुआ करते हैं। यहां जब मिथ्यात्व को अधिकरण के रूप में प्रयुक्त किया हैं तब उसे न कर्ता कहा जा सकता है और न ही ‘करण’। अनन्तानुबन्धी की बात अलग है। इस के दो अधिकरण हैं—प्रथम गुणस्थान और द्वितीय गुणस्थान। प्रथम गुणस्थान में वह अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बांधती है तथा द्वितीय गुणस्थान में मात्र अपना ही बन्ध करती है।

मैं समझता हूं कि इस तरह की विवक्षाओं को लेकर यदि मिथ्यात्व को कर्ता और करण रूप से कार्य के प्रति ‘अर्किचित्कर’ कह देतो कोई अन्योक्ति

नहीं कहलानी चाहिए। जहां आस्त्रव और बन्ध का कर्ता और करण मिथ्यात्व नहीं होता तब अर्किचित्कर ही तो हुआ-यानी आस्त्रव और बन्ध में उसका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है। (अर्किचित्कर पृ. 65-66)

आचार्य विद्यासागर के उपरोक्त निजमत— निजवाणी का सटीक उत्तर मैंने पहले अनेक बार जिनमत— जिनवाणी के माध्यम से दिया है। वहां से अवलोकनीय है। तथापि पुनः संक्षिप्त उधृत यहां कर रहे हैं—

सकथायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध ।

त.सू. अ. 8 सू. 2

अतो मिथ्यादर्शनावेशादाद्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषयात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनाम् अनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागोपश्लेष्णो बन्ध इत्याख्यायते । (स्वामी अकलंकदेव अ. 8 वा. 8)

मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आद्रीभूत आत्मा में चारों ओर से योगो विशेष के कारण सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्तप्रदेशी कर्मयोग्य पुद्रलों के अविभावात्मक उपश्लेष को बन्ध कहते हैं।

अतएव ‘सकथायत्वात्’ के स्थान पर आचार्यश्री ने “सकमिथ्यात्वात्” ऐसा नहीं कहा ऐसे भ्रान्त सिद्धांत कुर्तक को प्रतिपादित करके मिथ्यात्व बन्ध प्रकरण में अर्किचित्कर है ऐसा आगम विरुद्ध वर्णन करना योग्य नहीं हैं। वर्णन प्रणालियां अनेक प्रकार होती हैं जैसे जैन धर्म अनेकान्तात्मक होते हुए भी हर शब्द में ‘स्यात्’ शब्द प्रयोग नहीं किया तथापि वहां एकान्तमत का प्रतिपादन नहीं किया जाता हैं। मिथ्यात्व से चारों प्रकार के बन्ध होते हैं ऐसा कथन आचार्य कुन्दकुन्द देव ने बारस अणुपेक्खा में स्पष्ट किया है यथा—

सब्वे पयडिदिट्टिदिओ अणुभाग पदेस बंध ठाणाणि ।  
जीवो मिच्छतवसा भमिदो पुण भाव संसारे ॥ (29)

इस भाव परावर्तनरूप संसार में मिथ्यात्व के वशीभूत जीव ने सभी (आठो) कर्मों के प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध के सभी स्थानों में बार-बार भ्रमण किया है।

## अध्याय 5

# मोहादि भाव से प्राणी कर्म बांधता है

पाणाबांधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।

जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्भेहिं ॥(149) प्रसार

If the Jiva, through delusion and hatred, causes harm to the life-essentials of living beings, this results into the bondage of Karmas such as knowledgeobscuring.

अथ प्राणां नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारणं भवतीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषण समर्थयति—पाणाबाधं आयुरादिप्राणानां बाधां पीडा कुणदि करोति । स कः । जीवो जीवः काभ्यां कृत्वा मोहपदेसेहिं सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्यां मोहप्रदेषाभ्याम् । केषां प्राणबाधां करोति । जीवाणं एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम् । जदि यदि चेत् सो हवदि बंधो तदा स्वात्मोपलभ्य प्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेद भिनः स परमागमप्रसिद्धो हि स्फुटबंधो भवति । कैःकृत्वा । णाणावरणादिकम्भेहिं ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति । तदेः ज्ञायते प्राणाः पुदगलकर्मबंधकारणं भवतीति । अयमत्रार्थ—यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मनमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञान स्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति ।

आगे प्राण नवीन कर्म-पुद्गल के बन्ध के कारण होते हैं, इसी ही पूर्वोक्तकथन को विशेषता से कहते हैं—

(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेष के कारण (जीवाणं पाणाबांध) अपने और पर जीवों के प्राणों को बाधा (कुणदि) पहुंचाता है तब (हि) निश्चय से इसके (सो बंधो) वह बन्ध (णाणावरणादिकम्भेहिं) ज्ञानावरणी आदि कर्मों से (हवदि) होता है । जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवल ज्ञानरूपी दीपक से मोह के अंधकार को विनाश करने वाले परमात्मा से विपरित मोहभाव और द्वेषभाव से परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणों को घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवों के भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणों को पीड़ा पहुंचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष से विपरीत है तथा मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक रूप हैं । इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंध के कारण होते हैं । यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरे को मारने की इच्छा से गर्म लोहे के पिंड को उठाता हुआ पहले अपने को ही कष्ट दे लेता है । फिर अन्य को घात हो सके इसका कोई नियम नहीं है, तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहे के स्थान में मोहादि परिणामों से परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राण को घातता है उसके पीछे दूसरे के प्राणों का घात हो या न हो ऐसा कोई नियम नहीं है ।

समीक्षा—इस गाथा में आचार्य श्री ने बताया है कि मोह-द्वेष आदि वैभाविक भावों से स्व आत्मा की हिंसा करता हुआ कभी-कभी दूसरों की भी हिंसा करता है जिससे ज्ञानावरणादि कर्मों को बांधता है । मोहादि भाव होना भाव हिंसा तथा भावास्तव और भावबन्ध है । इससे ही द्रव्यास्तव होता है ।

स्वामी कार्तिकेय ने कहा भी है—

मोह विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स  
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छताई अणेय विहा ।

(89) पृ.44 कार्तिकेयानुप्रेक्षा

मोहनीय कर्म के उदय से जीव के जो अनेक प्रकार के मिथ्यात्वादि परिणाम होते हैं, उन्हें आस जानो ।

जीवस्य संसारिणः ते प्रसिद्धाः मिथ्यात्वादयः, मिथ्यात्वं 5, अविरति 12, अषाय 25, योगा:15, अनेकाविधाः शुभाशुभभेदेन बहुप्रकाराः, तान् आस्त्रवान्

मन्यस्व, हे भव्य त्वं जानीहि । ते के । ये जीवस्य भावाः परिणामा भवन्ति । कुतः ।  
मोहविपाकवशात् मोहनीय कर्मोदयवशात् ।

आस्त्रवपूर्वक ही बन्ध होता है । बन्ध के पांच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । इनमें से योग के सिवाय शेष कारण मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं । और मोहनीय कर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है । दसवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म की बन्ध व्युच्छति हो जाने से ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में योग के द्वारा केवल एक सातावेदनीय का ही बन्ध होता है । शेष 119 प्रकृतियाँ मोहनीयकर्मजन्य भावों के कारण ही बन्धती हैं । अतः यद्यपि आस्त्रव का कारण योग है, तथापि प्रधान होने के कारण योग के साथ रहने वाले मोहनीयकर्म के मिथ्यात्व आदि परिणामों को भी आस्त्रव कहा है ।

कुन्दकुन्द देव ने समय सार में शिष्य के प्रश्नोत्तर रूप में कहा है—

अज्ञवसाणिमितं जीवा बज्जन्ति कम्मणा जदि हि ।  
मुच्चन्ति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं ।

(280) समयसार पृ. 236

जब कोई भी जीव अपने-अपने अध्यवसान के निमित्त से कर्म से बन्ध को प्राप्त होते हैं मोक्षमार्ग में स्थित होने पर कर्म से छूटते हैं (अन्यथा नहीं ऐसा नियम है) जब तेरा विचार क्या काम आया ?

अज्ञवसाणिमितं जीवा बज्जन्ति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वं  
रागादिस्वकीयाध्यवसान निमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणाबध्यते, इति चेत्  
मुच्चन्ति मोक्खमग्गे ठिदाय ते शुद्धात्मसम्यक्त्वश्रद्धान ज्ञानानुचरणं  
निश्चयरत्नत्रय लक्षणे मोक्षमार्गं स्थितः पुर्वमुच्यते यदि चेतते जीवाः किं करोसि  
तुमं तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारी  
न भवति ।

जब कि सब ही संसारी जीव अपने में होने वाले मिथ्यात्व या रागादि अध्यवसान का निमित्त लेकर ही नवीन कर्म के बन्ध से जकड़ लिये जाते हैं ऐसा ही नियम है शुद्धात्मा के समीचीन श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय ही लक्षण जिसका उस मोक्षमार्ग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मध्यान में तल्ली

होकर मुक्त हो सकते हैं तब हे दुरात्मन् ! तू वहां क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं अपितु तेरा विचार ही व्यर्थ ठहरता है ।

सब्वे करेदि जीवो अज्ञवसाणेण तिरियणेरयिए ।  
देवमुण्ये य सब्वे पुण्यं पावं च णेयविहं । (286)

धर्माधर्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च ।  
सब्वे करेदि जीवो अज्ञवसाणेण अप्णाणं । (287) पृ. 239

यह जीव अध्यवसान भाव के द्वारा तिर्यच, नारक, देव और मनुष्य नाम से कही जाने वाली सभी पर्यायों को तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप को तथा पर्म, अधर्म, जीव, अजीव द्रव्य को एवं लोक अलोक को इन सबको अपना लेता है अपने कर लेता है ।

बुद्धी ववसाओवि य अज्ञवसाणं मई य विण्णाणं ।  
एकट्ठमेव सब्वं चित्तं भावो य परिणामो । (290) पृ. 242

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम ये सब नाम एक ही अर्थ के वाचक हैं ।

बोधनं बुद्धिः व्यवसानं व्यवसायः अध्यवसानमध्यवसायः मननं पर्यालोचनं  
प्रतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चित्तं चित्तं, भवनं भावः परिणमनं परिणामः,  
तिश्च शद्भेदेऽपि नार्थभेदः—किंतु सर्वेऽपि समभिरूढ़नयापेक्षयाऽध्यवसानार्थं एव ।  
अथं ? इति चेत् यथेन्द्रः शक्रः पुरंदर इति ।

बोधन अर्थात् जानना मात्र सो बुद्धि, व्यवसानं अर्थात् जानने मात्र के रूप व्यवसाय, अध्यवसानं अर्थात् समझ लेना सो अध्यवसाय, मननं अर्थात् मानना स्वीकार करना सो मति, विज्ञान जिसके द्वारा जाने सो विज्ञान, चित्तनं अर्थात् स्मरण करना वह चित्त, भवनं अर्थात् चेतना का होना सो भाव, परिणमनं अर्थात् चेतना का रूपान्तर में होना सो परिणाम । इस प्रकार यहां शब्द भेद तो है फिर नु अर्थभेद नहीं है । यदि समभिरूढ़ नय से देखें तो इस सबका अर्थ अध्यवसान ही होता है जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरंदर का एक ही देवराज अर्थ होता है ।

रायम्हि य दोसम्हिय कषाय कम्पेसु चेव जे भावा ।  
तेहिं दु परिणम माणो रायाई बंधदि पूणोवि ।(304) पृ. 253

रागद्वेष आदि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर जो भाव होते हैं उन विकारी परिणामों के रूप में परिणमन करता हुआ वही जब अज्ञानी बन जाता है तो फिर रागादिरूप कर्मों को बान्धने लग जाता है ।

रागम्हिय दोसम्हिय कसाय कम्पेसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मणि उदयागते सति स्वस्थभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादि भावाः परिणामा भवति । तेहिं दु परिणममाणों रागादि बंधदि पुणोवि तैः कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादि परिणामोत्पादकानि द्रव्य कर्मणि बधाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति ।

तमेवार्थ द्रढयति ।

रागद्वेषादि कषायरूप द्रव्यकर्म के उदय आने पर अपने सहजभाव से डिगे हुए इस जीव के उस कर्मोदय के निमित्त से जो आत्मगत रागादि परिणाम अर्थात् विकारी भाव होते हैं, उनसे मैं रागादि रूप हूँ इस प्रकार के अभेद को लिए हुए परिणमन करता हुआ अर्थात् रागद्वेषरूप होता हुआ वह फिर से भावि रागादिरूप परिणामों के उत्पादक द्रव्यकर्मों का बन्ध करने लग जाता है । इस प्रकार वह अज्ञानी जीव उन रागादिकों का कर्ता बनता है ।

रायम्हिय दोसम्हिय कसायकम्पेसु चेवजे भावा ।  
ते ममदु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा ।(305)

राग द्वेषादि कषाय रूप कर्मों के उदय आने पर ये सब मेरे हैं इस प्रकार से परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि का बन्ध करता है ।

पूर्वगाथामहं रागादीत्यभेदन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्मणि बधातीत्युक्तं । आ तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो राग इति संबंधेन परिणमन् तानि नवतरद्रव्यकर्मणि बधातिइति विशेषः? । किन्तु विस्तरः—यत्र मोहरागद्वेषव्याख्यायन्ते तत्र मोहशद्वेन दर्शन मोहः, मिथ्यात्मानि जनक इति ज्ञातव्यं । रागद्वेष शब्देन तु क्रोधादि कषायोत्पादकः चारित्रमोह ज्ञातव्यः । अत्राह शिष्यः—मोहशद्वेन तु मिथ्यात्मादिजनको दर्शन मोहो भवतु दोषो

नास्ति रागद्वेषशब्देन चारित्र मोह इति कथं भण्यते? इतिपूर्व पक्षे परिहारं ददाति—कषायवेदनीयाभिधान चारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषांगौ द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागांगौ रागजनकत्वात्, नो कषाय वेदनीय संज्ञा चारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्पुंसक वेद त्रय हास्य रतयः पञ्चनोकषायाः रागांगा रागोत्पादकत्वात् अरति भयशोकजुगुप्सा संज्ञाः चत्वारे द्वेषाणां द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रयेण मोह शब्दे दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते रागद्वेषशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं । एवं कर्मबन्ध कारणं रागादयः, रागादीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो न च ज्ञानी जीवो ।

इससे पहले गाथा में तो मैं स्वयं रागादिरूप हूँ इसप्रकार उन रागादि से अभिन्न परिणमन करता हुआ आत्मा रागादि के उत्पन्न करने वाले उन नवीन द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है ऐसा बता आए हैं, किन्तु इस गाथा में यह बता रहे हैं, कि शुद्धात्मा की भावना से रहित होने से यह जीव 'यह राग भाव मेरा है' इस प्रकार राग के साथ सम्बन्ध करता है इतनी विशेषता है । हां, यहां पर यह बात जान लेनी है कि जहां पर रागद्वेष और मोह ये तीनों शब्द एक साथ आवें वहां पर मोह शब्द से दर्शन मोह जो कि मिथ्यात्व का जनक है उसे लेना चाहिए और रागद्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों के उत्पन्न करने वाले चारित्र मोह को समझना चाहिए । यहां शिष्य पूछता है कि मोह शब्द से मिथ्यात्मादि जनक दर्शन मोह लिया जाय यह ठीक है इसमें दोष नहीं है किन्तु रागद्वेष शब्द से चारित्र मोह कैसे लिया? इसका उत्तर यह है कि कषाय वेदनीय नामवाले चारित्र मोह के भीतर क्रोध और मान ये दोनों द्वेष के उत्पादक होने से द्वेष के अंग हैं और माया और लोभ ये दोनों राग जनक होने से रागरूप हैं । इसी प्रकार नो कषाय वेदनीय नामक चारित्र मोह में स्त्री वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति ये पांच नो कषाय रागोत्पादक होने से राग में आ गई शेष अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चारों नो कषायें द्वेष की उत्पादक होने से द्वेष में आई इस प्रकार मोह शब्द से दर्शन मोह मिथ्यात्व और राग-द्वेष शब्द से चारित्र मोह ऐसा सभी स्थान पर समझना चाहिए । इस प्रकार कर्म बन्ध के कारण रागादि भाव हैं और रागादि भावों का कारण नियम से कर्म का उदय है किन्तु ज्ञानी जीव नहीं ।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने अध्यात्म अमृतकलश में कर्मबन्ध के आध्यात्मिक पक्ष का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

न कर्मबहुलं जगत न चलनात्मकं कर्म वा  
न नैक करणानि वा न चिदचिद्रधो बन्धकृत् ।

यदैवयमुपयोगभूः समुपपाति रागादिभिः  
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्णाम् ।

(164) अध्यात्म अमृतकलश पृ 212

जगत में कर्म की वर्गणाएं भरी हैं अतः वे बन्ध कराती हैं ऐसा नहीं है। जीव के हलन-चलन कराने वाले मन-वचन-काय के कर्म अर्थात् कियाएं भी बन्ध नहीं करातीं। नाना प्रकार के बाह्य साधन (इद्रियां) भी जीव को बन्ध नहीं कराते, सचेतन-अचेतन पदार्थों का घात भी बन्ध नहीं कराता। किन्तु जीव के ज्ञानोपयोग की भूमि जब रागादि निकारी भावों के साथ एकता करती है तब यही एकमात्र अवस्था प्राणियों के लिए बन्ध का कारण होती है।

मिथ्यादृष्टे: स एवास्य बन्ध हेतुर्विपर्ययात् ।  
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते । (170) पृ. 223

इस मिथ्यादृष्टि के यह मिथ्या अध्यवसान ही विपरीत रूप मिथ्यात्वरूप परिणाम होने से बन्ध का कारण है यह जो इसका अध्यवसान है वह अज्ञान स्वरूप ही है।

प्रश्न—पिछले प्रश्न के समाधान में आपने कहा था कि सम्यग्दृष्टि भी शुभ-अशुभरूप अध्यवसानों से अपने पूण्य-पाप बांधता है। यहां कह रहे हैं कि अध्यवसान सम्यग्दृष्टि के नहीं होता ऐसा कथन विरुद्ध प्रतीत होता है?

समाधान—अध्यवसान शब्द का अर्थ इस प्रकार है। इसके लिए निम्न शब्द आचार्य कुन्द कुन्द ने प्रतिपादित किये हैं—

बुद्धि-व्यवसाय-अध्यवसान-मति-विज्ञान-वित्तभाव-परिणाम ये सब शब्द एकार्थक हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि अध्यवसान का सामान्य अर्थ तो जीव के परिणाम ही है जो रागादि युक्त हैं। तथापि इस प्रकरण में मोह युक्त परिणाम को ही मिथ्या अध्यवसान कहा है। उसे ही बन्ध कारण कहा है।

प्रश्न—बन्ध तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है ऐसा शास्त्रों में कहा है। पिछले समाधानों में भी कहा गया हैं तो क्या वह अध्यवसान भाव नहीं है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि का अध्यवसान मोह रहित होने से इस प्रकरण में “अध्यवसान” नाम नहीं पाता। मिथ्या अध्यवसान को ही यहां अध्यवसान व बन्ध का कारण कहा है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीव को मिथ्या अध्यवसान के अभाव में “अबन्धक” ही कहा है।

उसे पिछले समाधानों में व अन्यत्र शास्त्रों में शुभाशुभ पूण्यपाप रूप बन्ध करना लिखा है वह अल्पबन्ध उपेक्षणीय है। वह अनन्तसंसार का कारण नहीं है। अतः उस बन्ध को बन्ध नहीं माना। इसी से चतुर्थादि गुणस्थानों में शुभाशुभ रूप प्रवृत्ति होने तथा अल्प स्थिति, अनुभाग रूप बन्ध होने पर भी अबन्धक ही कहा है। मिथ्यादृष्टि को ही एकमात्र बन्धक कहा है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के प्रभाव से वही अनन्तसंसार के कारण भूत कर्मों का अति स्थिति रूप अनुभाग रूप बन्ध करता है।

सारांश यह है ग्रंथ में जो प्रकरण चला है वह मिथ्याध्यवसान को ही “अध्यवसान” मानकर चला है। अतः यहां अध्यवसान शुब्द का अर्थ मिथ्यात्व सहित परिणाम ही जानना चाहिए। (प. जगन्मोहन लाल, प्रस्तोता कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया)

अनेनाध्यवसायेन निष्कलेन विमोहितः ।

तत्कन्वनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति तत् । (171)

इस प्रकार के मिथ्याध्यवसाय से अर्थ विमोहित (आत्मा) प्राणी आत्मा को अर्थात् अपने को जिस अधोअवस्था में नहीं पहुंचाता ऐसी अवस्था कोई नहीं है।

विश्वाद् विभक्तोऽपि हि यत्रभावात् ।

आत्मनमात्मा विदधाति विश्वम् ।

मोहैककन्दोऽध्यवसाय एषः ।

नास्तीह येषां यतयस्त एव । (172)

यह जीव संसार के सम्पूर्ण द्रव्यों से भिन्न है तथापि अपने को विश्व के स्वरूप से एकाकार अभिन्नरूप बनाता है अर्थात् मानता है यह उसका

अध्यवसाय मोहमूलक है अर्थात् इस प्रकार के अध्यवसाय की जड़ मोहकन्द ही है, जिन प्राणियों को यह नहीं है वे ही यति श्रेष्ठ हैं।

मिथ्यात् के उदय से जो पर के साथ एकाकार की बुद्धि है, वह मोह परम्परा की जड़ है। उससे अनन्तकाल तक प्राणी पर में मोहित हो भटकता रहेगा।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्यज्यं यदुक्तं जिनैः  
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।

सम्यग्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किम्  
शुद्धाज्ञानघने महिम न निजे बधन्ति सन्तो धृतिम् । (173)

भगवान् जिनेन्द्र ने पद-पद पर ग्रन्थों में अध्यवसान ही त्याग करने योग्य है ऐसा जो कहा है से मैं ऐसा मानता हूं कि सम्पूर्ण व्यवहार ही छुड़ाया है जो कि अन्य के आश्रय से होता है, निजाश्रय से नहीं होता। जबकि जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है तो ग्रन्थकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि, सज्जन पुरुष शुद्ध ज्ञन से घनस्वरूप अर्थात् ठोस अपनी महिमा में ही धैर्य क्यों नहीं बांधते।

भगवान् जिनेन्द्र का उपदेश आचार्यों ने प्रत्येक जैन ग्रन्थों में निबध्द किया है। प्रत्येक उपदेश का तात्पर्य इतना ही है कि स्वाश्रय करो, पराश्रय छोड़ो। जितना संसार का व्यवहार है वह चाहे मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो, पराश्रय से होता है। पराश्रय के त्याग का उपदेश ही परमार्थ का उपदेश है।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मनो याति यथार्ककान्तः ।  
तस्मिननिमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभवोऽयमुदेति तावत् । (175)

यह शुद्ध चैतन्य मूर्तिस्वरूप आत्मा स्वयं के रागादि परिणमन में निमित्त अर्थात् कारणरूप नहीं है। किन्तु आत्मा में रागादि उत्पन्न होने का निमित्त कारण पर द्रव्य का सम्बन्ध ही है, वस्तू का ऐसा ही स्वभाव है कि वह निमित्तरूप परसंग में ही नैमित्तिक भाव को प्राप्त होता है। उदाहरण देकर समझाते हैं जैसे सूर्यकान्तमणि स्वयं पार्थिव है, वह ज्वालारूप परिणत स्वयं नहीं होता, किन्तु सूर्य के निमित्त को पाकर परिणमता है।

## अध्याय 6

### भावबन्ध का स्वरूप

उवओगमओ जीवो मुज्ज्ञादि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।

पण्णा विविधे विसये जो हि पूणो तेहिं सो बंधो । (175) । प्र. सार

The soul, which is constituted of the manifestation of consciousness, conceives infatuation, attachment or aversion having obtained various objects of pleasure; so again it is bound up with them, (i.e. the passional states).

अथ रागद्वेष मोह लक्षणं भावबन्ध स्वरूप माख्याति-(उवओगमओजीवा) उपयोगमयो जीवः अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञान दर्शनोपयोगमयस्तावतथा भूतोऽयनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधि भावेन परिणतः सन्। किं करोति। मुज्ज्ञादि रज्जेदि वा पदुस्सेदि मुहयति रज्यति वा प्रदेष्टि द्वेषं करोति। किं कृत्वा पूर्वं (पण्णा) प्राप्य। कान्। (विविधे विसये) निर्विषय परमात्मस्वरूप-भावनाविपक्ष भूतान् विविधपन्वेद्रियविषयान्। (जो हि पूणो) यः पुनरित्यं भूतोऽस्ति जीवो हि स्फुटं, (तेहि संबंधो) तैः संबद्धो भवति, तैः पूर्वोक्त रागं द्वेष मोहैः कर्तृभूतैर्मोहराग द्वेष रहित जीवस्य शुद्ध परिणाम लक्षणं परमधर्ममलभानः सन् स जीवो बद्धो भवतीति। अत्र योऽसौ राग द्वेष मोह परिणामः स एव भाव बन्ध इत्यर्थः।

राग द्वेष मोह लक्षण के धारी भावबन्ध का स्वरूप कहते हैं—

उवओगमओ जीवो उपयोगमयी जीव विविधे विसये नाना प्रकार इन्द्रियों के पदार्थों को पण्णा पाकर मुज्ज्ञादि मोह कर लेता है रज्जेदि राग कर लेता है वा

अथवा पदुस्सेदि द्वेष कर लेता है। पुणो तथा हि निश्चय से जो वही जीव तेहि संबंधो उन भावो से बंधा है, यही भावबंध है। यह जीव निश्चयनय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोग का धारी है तो भी अनादिकाल से कर्मबंध की उपाधि के वश से जैसे स्फटिकमणि उपाधि के निमित्त से अन्य भावरूप परिणमती है उसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावों से परिणमता हुआ इन्द्रियों के विषयों से रहित परमात्म-स्वरूप की भावना से विपरीत नाना प्रकार पञ्चेन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों को पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है। ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमयी परमधर्म को न अनुभवता हुआ इन रागद्वेष मोह भावों के निमित्त से बद्ध होता है। यहां पर जो इस जीव के यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम है सो ही भावबन्ध है।

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्परिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थनासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरूपरक्तात्मस्वभावत्वानीलपीतरकतो पाश्रयप्रत्ययनीलपीतरकतवैरूपस्कृतस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वादबन्धो भवति ॥ (तत्त्व प्रदीपिका)

टीका—प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभास स्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शन स्वरूप है।) उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होने वाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष, करता है वह काला, पीला और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और ललाई के द्वारा उपरक्त स्वभाव वाले स्फटिकमणि की भाँति, पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्म स्वभाव वाला होने से, स्वयं अकेला ही बन्धरूप है, क्योंकि मोह राग द्वेषादि भाव उसका द्वितीय है। बन्ध तो दो के बीच होता है, अकेला आत्मा बन्ध स्वरूप कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक तो आत्मा और दूसरा मोह-राग द्वेषादि भाव होने से, मोह राग द्वेषादि भाव के द्वारा मलिन स्वभाव वाला आत्मा स्वयं ही भाव बन्ध है।

समीक्षा—इस गाथा से एवं अमृत चन्द्रसूरि की टीका से यह ज्ञान होता है कि मोह (मिथ्यात्व) राग एवं द्वेष भाव बंध है भावबंध के साथ-साथ स्वयं बन्ध स्वरूप ही है, क्योंकि आत्मा अलग है मोह राग द्वेष अलग है दो वस्तुओं

का संश्लेष रूप से मिल जाना बंध है। मोह राग द्वेष रूप परिणाम से कर्म बन्ध होता है इसलिए बंध के लिए भी कारण है। जैसे द्रव्यकर्म बंध के लिए कारण हो सकता है या नहीं भी ले सकता है। परन्तु वैसे भाव कर्म भजनीय नहीं है। अर्थात् द्रव्य कर्म के उदय से पुनः नवीन भाव कर्म हो या नहीं भी हो सकता है इसलिए द्रव्य कर्म के उदय से पुनः द्रव्य कर्म बंध हो सकता है या नहीं हो सकता परन्तु भाव कर्म से अवश्य द्रव्यकर्म का बन्ध होगा ही। कुन्द-कुन्द देव ने समयसार में अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) जीव रागद्वेषादि करके कर्म को संचय करता है कहा है। यथा—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोणहंपि ।  
अण्णाणी ताव दुसो कोहादिसु वट्टुदे जीवो ॥74॥

कोधादिसु वट्टुंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।  
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहि ॥75॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोणहंपि यावत्कालं न वेति न जानाति विशेषान्तर भेदज्ञानं शुद्धात्मकोध्यास्ववस्वरूपयोर्द्वयोः। अण्णाणी ताव दूसो तावत्कालपर्यतज्ञानी बहिरात्मा भवति स जीवः। अज्ञानी सन्क्षिप्त करोति? कोहादिसु वट्टुदे जीवो यथा ज्ञानमहम् इत्यभेदेन वर्तते तथा क्रोधोद्यास्ववरहित निर्मलात्मानुभूतिलक्षणनिजशुद्धात्मात्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्पि क्रोधोऽहमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति। अथ-कोधादिसु वट्टुंतस्य तस्स उत्तम क्षमादिस्वरूप परमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य जीवस्य। किं फलं भवति? कम्मस्स संचओ होदि परमात्मप्रच्छादककर्मणः संचयआस्व आगमनं भवति। जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहि तैलप्रक्षिते धूलिसमागमवदास्त्रवे सति ततो मलादितैल सम्बन्धेन मलबन्धवत्रकृति-स्थित्यनुभाग प्रदेशलक्षणः स्वशुद्धात्मावापिस्वरूप मोक्ष विलक्षणो बन्धो भवति। जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः किं च यावत्कोध्यास्ववेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूप स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् अज्ञानजा कर्तृकर्म प्रवृत्तिं न मुंचति तस्माद् बन्धो भवति। बन्धात्मसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः

जावण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोणहंपि शुद्धात्मा और क्रोधादि आस्त्रों के स्वरूप से जो विशेषता है उसको यह जीव जब तक नहीं जान लेता-समझ लेता, अण्णाणी तावदु सो तब तक यह अज्ञानी और बहिरात्मा बना रहता है। अज्ञानी होकर वह क्या करता है कि कोहादिसु वट्टेदे जीवों जैसे मैं ज्ञान हूं अर्थात् ज्ञान मेरा स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञान के साथ एकता को लिए हुए है वैसे ही क्रोधादिक आस्त्र भावों से रहित ऐसी निर्मल-आत्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मस्वभावसे पृथक् भूत क्रोधादिक भाव हैं उनमें भी मैं क्रोध हूं क्रोध करना मेरा स्वभाव है, इस प्रकार एकता को लिए हुए रहता है परिणमन करता है। कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स उत्तमक्षमादि-स्वरूप जो परमात्मा उससे विलक्षण जो क्रोधादिभाव उनमें प्रवर्तन करने वाले इस जीव के कम्मस्स संचओ होदि परमात्मस्वरूप को तिरेहित करने वाले कर्म का संचय, आस्त्र, आगमन होता रहता है। जीवस्सेवं बंधो भणिदो खल्लु सव्वदरसीहि जैसे तेल लगाये हुए जीव के शरीर में धूलि का समागम हो जाता है, वैसे ही नूतन कर्मों का आस्त्र होने पर फिर तेल के सम्बन्ध से मैल के चिपक जाने के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश लक्षण वाला जो कि अपने शुद्धात्मा की प्राप्ति-स्वरूप मोक्ष से विलक्षण है, ऐसा बंध अवश्य ही होता है। सर्वज्ञ भगवान् ने नूतन-बंध का ऐसा वर्णन किया है और जब तक अपने शुद्धात्मस्वरूप को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से क्रोधादिक से पृथक् करके नहीं जानता है अपने अनुभव में नहीं लाता है, जब तक अज्ञानी रहता है। जब तक अज्ञानी रहता है तब तक अज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाली कर्ताकर्मरूप प्रवृत्ति को भी नहीं छोड़ता है इसलिए बंध होता रहता है। बंध से संसार परिभ्रमण होता रहता है ऐसा अभिप्राय है।

पंचाध्यायी में कहा है कि द्रव्य कर्म के उदय से जब भाव कर्म होता है तब पुनः द्रव्यकर्म का संचय होता है। यथा—

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।  
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत्। (41) पृ. 187

जैसे कोई किसी का उपकार करता है। और वह उसका प्रत्युपकार करता है वैसे ही जीव के अशुद्ध रागादि भावों का कर्म कारण है और रागादि भाव उस कर्म के कारण हैं।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।  
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः। (42)

आशय यह है कि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से रागादि भाव होते हैं और रागादि भावों के निमित्त से नूतन कर्मका संचय होता है। इन आये हुए कर्मों का परिपाक होने से फिर रागादि भाव होते हैं और उन रागादि भावों के निमित्त से पुनः बन्ध होता है। समयसार में कुन्दकुन्द देव ने इसी भाव को प्रगट किया है—

जीवपरिणामहेतुं कर्मतं पुगला परिणमंति।  
पुगगलकर्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि। (86) पृ. 85

जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक-कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। राजवार्तिक में अकलंक देव ने कहा है,—

करणादिसाधने बन्धशब्दः (11) करणादि साधनेष्वयं बन्ध शब्दो द्रष्टव्यः। तत्र करणसाधनस्तावत्-बध्यतेऽनेनात्मेति बन्धः। “हल” इति करणे घज। कः पुनसौ मिथ्यादर्शनादिः। ननु स बन्धहेतुरुक्तः कथं बन्धो भवितुमर्हति? सत्यमेवमेतत् अभिनवद्रव्यकर्मादानमित्तवाद् बन्धहेतुरपि सन् पूर्वोपात् कर्म हेतु कत्वात् कार्यतामास्कन्दन्? तद्रनुविधानात् आत्मनोऽस्वतन्त्रीकरणत्वात् करणव्यपदेश मर्हतीति। तद्रन्जनेन आत्मना आत्मसाक्षियते इति कर्मसाधनत्वमपि च युक्तिमत्। ज्ञानदर्शनाऽव्याबाधाऽनामाऽगोत्राऽनन्त- रायत्वलक्षणं पुरुषसामर्थ्यं प्रतिबधाति बन्धः इति कर्तुसाधनत्वमपि चोपपतिमत्। एवं बन्धनं बन्ध इति भावसाधने वा अस्वतन्त्रीक्रियामात्र विवक्षायाम्। ननु भावसाधने सामानाधिकरणं (एवं) नोपपद्यते ज्ञानावरणं बन्ध इत्यादि, नैषः दोषः, तदव्यतिरेकात् भावस्य तद्वता सामानाधिकरणं भवति-यथाज्ञानमेवात्मेति। एवमितरसाधनायोजना च कर्तव्या। (पृ. 450)

बन्ध शब्द करणादि साधन है। करणादि साधनों में यह बन्ध शब्द निष्पन्न होता है। जैसे-‘बध्यतेऽनेन, जिसके द्वारा आत्मा बंधता है’ इसमें ‘घज’ प्रत्यय करके करण साधन में बन्ध शब्द बनता है तथा मिथ्यादर्शन आदि जो बन्ध के कारण कहे हैं, करणविवक्षा में मिथ्यादर्शन आदि को ही बन्ध कहा है।

प्रश्न—मिथ्यादर्शनादि को तो बन्ध का कारण कहा है, वे बन्ध कैसे हो सकते हैं? उत्तर—यद्यपि यह सत्य है कि मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारण है तथापि नवीन कर्म बन्ध के कारण होने से पूर्वोपात् कर्म के हेतु (कारण) से कार्यरूपताको प्राप्त होते हुए आत्मा की स्वतन्त्रता का विघात करते हैं अतः कार्यरूप से मिथ्यादर्शनादि परिणाम आत्मा को परतन्त्र करने के कारण बन्ध कहे जाते हैं। आत्मा के द्वारा पुद्गल आत्मसात् किये जाते हैं अतः कर्मसाधन भी बन्ध शब्द है। अर्थात् 'बध्यते इति बन्धः मिथ्यादर्शनादि' रूप से जो बंधे वह बन्ध, यह कर्म साधन भी बन जाता है, इसी प्रकार "ज्ञानदर्शन, अव्याबाध, अनाम अगोत्र और अनन्तराय आदि पुरुष (आत्मा) की शक्तियों का जो प्रतिबन्ध करता है वह बन्ध है" यह कर्तृ साधन भी बन जाता है। मात्र परतन्त्र करने की विवक्षा होने पर "बन्धनं बन्ध" यह भाव साधन भी बन जाता है। प्रश्न—भाव साधन में 'ज्ञानावरणबन्ध' इत्यादि सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता? उत्तर—यह कहना उचित नहीं है कि भाव साधन नहीं बनता क्योंकि जैसे भाव और भाववान् में अभेद होने से सामानाधिकरण्य हो जाता है उसी प्रकार "ज्ञान ही आत्मा है" इस प्रकार अभेद विवक्षा में भाव साधन में भी सामनाधिकरण्य बन जाता है। इस प्रकार अन्य साधन का भी प्रयोग करना चाहियो।

कार्तिक अनुप्रेक्षा में जीव संसार में कैसे अनादि काल से परिणमन रहा है इसका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

जीवो आणाइ—णिहणो परिणममाणो हु णवं-णवं भावं।  
सामग्रीसु पवट्टदि कज्जाणि समासदे पच्छा। (231)

जीव द्रव्य अनादि निधन है। किन्तु वह नवीन नवीन पर्याय रूप परिणमन करता हुआ प्रथम तो अपनी सामग्री से युक्त होता है, पीछे कार्यों को करता है।

पातञ्जल योग-दर्शन में उपरोक्त कर्म-सिद्धान्त का वर्णन निम्न प्रकार किया है।

क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टा दृष्टजन्मवेदनीयः। (12)

शुभ-अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले, चित्तस्थ जो धर्माधर्म अथवा पुण्यपापरूप अदृष्ट-विशेष अविद्या-अस्मितादि क्लेशमूलक है- अर्थात् कर्माशय का मूल है। अविद्या- अस्मितादि अतः कर्माशय भी क्लेश कहा जाता है, और वह दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय हुआ करता है। अर्थात् कोई-कोई पुण्य-पापरूप अदृष्ट विशेष इसी जन्म में पुरुष को सुख-दुःखरूप फल देने वाला होता है और कोई-कोई अगले जन्म में फल देने वाला होता है।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पन्च क्लेशाः। (3)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेष-ये पांच क्लेश हैं।  
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेणां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। (4)

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार नामक चार अवस्थावाले, पीछे के सूत्र में बतलाई गई अविद्या के बाद आने वाले अस्मितादि चार क्लेशों का उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। अतः जैसे अविद्या हेय है, वैसे ही अविद्या-जन्य अस्मितादि भी हेय है।

अनित्यशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (5)

अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मवस्तुओं में क्रमशः जो नित्य, शुचि, सुख, एवं आत्मख्याति (आत्मवृद्धि) होती है, वह अविद्या कही जाती है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता। (6)

दृक् शक्तिरूप पुरुष तथा दर्शन शक्तिरूप बुद्धि की जो, अभेद न होने पर भी, अभेद जैसी प्रतीति होती है वह अस्मिता नामक द्वितीय क्लेश है।

सुखानुशयी रागः। (7)

सुख-भोग के अनन्तर चित्त में रहने वाला जो (पुनः उस सुख के भोग का) अभिलाषा है, वह राग कहा जाता है।

दुःखानुशयी द्वेषः। (8)

पहले दुःख का अनुभव किये हुए व्यक्ति में अनुभव किये गये दुःख अथवा दुःख के समान (शत्रु आदि) के प्रति जो क्रोध पैदा होता है उसे द्वेष कहते हैं।

पूर्वजन्म में मृत्यु के समय उपस्थित भय के अनुभव से होने वाली वासना के कारण स्वभाव सिद्ध जो, विद्वान के भी चित्र में, मूर्खों की तरह जड़ जमाया हुआ मरणभय है वह अभिनिवेश नामक पांचवां क्लेश कहा जाता है।

सुदस्सं वज्जमन् अत्तनो पन ददृसं ।

परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं ।  
अत्तनो पन छादेति कलिं व कितवा सठो (18)

दूसरे का दोष देखना आसान है, किन्तु अपना (दोष) देखना कठिन है वह (पुरुष) दूसरों के ही दोषों को भूसे की भाँति उड़ाता फिरना है, किन्तु अपने (दोषों) को वैसे ही ढांकता है, जैसे बहेलिया शाखाओं से अपने शरीर की।

दवीयः कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम् ।  
अन्यत्र गमकारीव घोरैर्युक्तो व्रतैरपि ॥ 27 अमित. श्रा.

जैसे अन्यत्र अर्थात् विपरीत दिशा में गमन करने वाला जीव अपने अभीष्ट स्थान को और भी दूर करता जाता है, उसी प्रकार अति कठिन घोर व्रतों के आचरण से युक्त भी मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने मुक्ति स्थान को और भी अत्यन्त दूर करता जाता है।

न मिथ्यात्वसमः शत्रूं मिथ्यात्वसमं विषम् ।  
न मिथ्यात्वसमो रोगो न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ (28)

संसार में इस जीव का मिथ्यात्व के समान कोई शत्रु नहीं मिथ्यात्व के समान कोई विष नहीं मिथ्यात्व के समान कोग रोग नहीं और मिथ्यात्व के समान कोई अन्धकार नहीं है।

द्विषद्विषतमोरोगैरुःखमेकत्र जायते ।  
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥(29)

शत्रु, विष, अन्धकार और रोग, इनके द्वारा एक भव में ही दुःख दिया जाता है किन्तु इस दुरन्त मिथ्यात्व के द्वारा जन्म-जन्म में जीव को महान् दुःख दिया जाता है।

## अध्याय 7

### भावबंध के विभिन्न भेद

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।  
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो । (180) । प्र. सार

Bondage results from the modification which consists of attachment, aversion and infatuation. Infatuation and aversion are inauspicious, while attachment is either auspicious and inauspicious.

अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकं रागाद्युपाधिजनितभेदं दर्शयति:- परिणामादो बंधो परिणामात्सकाशाद्वन्धो भवति । स च परिणामः किंविशिष्टः ? परिणामो रागदोसमोह जुदो वीतरागं परमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेष-मोहोपाधित्रयेण संयुक्तः असुहो मोहपदोसो अशुभौ मोहप्रदेषौपरोपाधि जनित परिणामत्रयमध्येमोहप्रदेषद्वयमशुभम् । सुहो व असुहो हवदि रागो शुभोऽशुभो वा भवति रागः । पंचपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूपः शुभराग उच्चते, विषयकषायरूपश्चाशुभति । अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभा-शुभसमस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्तं रागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकत्वक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् ।

आगे द्रव्य बंध का साधक जो जीव का रागादिरूप औपाधिक परिणाम है उसके भेद को दिखाते हैं:-

(परिणामदो) परिणामो से (बंधो) बंध होता है । (परिणामो) परिणाम (रागदोसमोहजुदो) रागद्वेष मोह युक्त होता है (मोहपदोसो) मोह और द्रेष

(असुहो) अशुभ है। (रागो) राग (सुहो) शुभ (व असुहो) व अशुभरूप (हवदि) होता है।

बीतराग परमात्मा के परिणाम से विलक्षण परिणाम रागद्वेष मोह की उपाधि से तीन प्रकार का होता है। इनमें से मोह और द्वेष दोनों तो अशुभ ही हैं। राग शुभ तथा अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। पंचपरमेष्ठी आदि की भक्ति में राग शुभ (प्रशस्त) राग कहा जाता है। जब कि विषय कथायों में राग अशुभ (अप्रशस्त) राग होता है यह तीन ही प्रकार का परिणाम सर्व प्रकार से ही उपाधि सहित हैं इसलिये बध का कारण है। ऐसा जानकर प्रशस्त तथा अप्रशस्त समस्त राग द्वेष के नाश करने के लिये सर्व रागादि की उपाधि से रहत सहजानन्दमई एक लक्षणधारी सुखामृत स्वभाव मई निज आत्मद्रव्य में ही भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है।

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तच्च शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंकलेशांगत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति। (तत्त्वप्रदीपिका)

प्रथम तो द्रव्यबन्ध विशिष्ट परिणाम से होता है। परिणाम की विशिष्टता राग द्वेष मोह-मयता के कारण है। वह शुभत्व और अशुभत्व के कारण द्वैत का अनुसरण करता है। (अर्थात् दो प्रकार का है) उसमें से मोह-द्वेषमयतासे अशुभत्व होता है, और रागमयता से शुभत्व तथा अशुभत्व होता है, क्योंकि राग विशुद्धि तथा संकलेशयुक्त होने से दो प्रकार का होता है।

समीक्षा—इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद देव ने द्रव्यबन्ध के लिए जो विभिन्न भाव बंध रूपी कारण है उसका संक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होंने मुख्यतः भावबंध के कारणों को तीन भाग में विभक्त किया (1) राग (2) द्वेष (3) मोह। इनमें से द्वेष मोह तो अशुभ परिणाम ही है इससे केवल पापबंध ही होता है। राग शुभरूप भी है और अशुभरूप भी है। धर्मप्रति देवशास्त्र गुरु के प्रति जो अनुराग है वह शुभराग है। इसके विपरीत विषय प्रति, संम्पत्ति प्रति, पुण्यत्व आदि प्रति जो राग है वह अशुभ राग है, शुभराग सम्यग्दृष्टि को ही होता है और इसके बल पर अशुभ का संवर पाप की निर्जरा पुण्य का बंध एवं

परम्परा से मोक्ष की उपलब्धि होती है। आत्मानुशासन में गुणभद्र आचार्य ने कहा भी है—

विधुततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।

संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः। (123) पृ. 111

अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप और शास्त्रविषयक अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान उसके अम्युदय (अभिवृद्धि) के लिए होता है।

विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।

रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति॥ (124)

जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अन्धकार को आगे करके जब राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाले ज्ञानरूप प्रकाश को छोड़कर अज्ञान को स्वीकार करता हुआ राग को (विषयवांछा) को प्राप्त होता है वह पातालतल को-नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान, चारित्र, तप आदि मोक्ष, के लिए कारण तो बनते नहीं हैं परन्तु सातिशय पुण्य बंध के लिए कारण भी नहीं बनते हैं। वे ही सम्यग्दर्शन के साथ महान अभ्युदय एवं मोक्ष के लिए कारण बन जाता है।

गुणभद्र स्वामी ने कहा भी है—

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।

पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसयुक्तम्॥ (15) पृ. 17

पुरुष के सम्यक्त्व से रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्व पत्थर के भारीपन के समान व्यर्थ है परन्तु वही उनका महत्व यदि सम्यक्त्व से सहित है तो वह मूल्यवान, मणि के महत्व के समान पूजनीय है।

अतएव सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावक एवं मुनि की क्रियाएं गुण क्रियाएं हैं अन्यथा वे क्रियाएं शुभाभास हैं।

अनादि काल से जीव मोहादि कर्म के वशवर्ती होकर वैभाविक परिणमन करता है और पापकर्म को ही रूचिपूर्वक, यत्पूर्वक इच्छा पूर्वक करता है कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है—

जत्तेण कुणदि पावं, विसयणिमितं अहण्णिसं जीवो ।  
मोहंध्यार सहिदो, तेण दु परिपडिसंसारे ॥

(34) द्वादश अनुप्रेक्षा पृ. 19

मोह रूपी अन्धकार से युक्त (अन्धाहुआ) यह संसारी जीव दिन-रात (पञ्चइन्द्रियों के) विषयों के कारण यत्पूर्वक पाप करता है इसीलिए वह संसार (रूपीसमुद्र) में गिरता है।

यहां विचारणीय यह है कि मिथ्यात्व युक्त जीवको शुभोपयोग भी नहीं होता है और शुभोपयोग जनित पुण्यानुबन्धी पुण्य का भी बंध नहीं होता है। भावसंग्रह में देवसेन आचार्य ने कहा भी है—

पुण्यं पुव्वायरिया दुविहं अक्खति सुत्तउत्तीए ।  
मिच्छपउत्तेण कयं विवरियं सम्म जुत्तेण ॥

(399) भा. संग्रह पृ. 183

पूर्वाचार्यों ने अपने सिद्धान्त सूत्रों के अनुसार उस पुण्य के दो भेद बताये हैं—

(1) मिथ्यादृष्टि पुरुष द्वारा किया गया पुण्य, (2) इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य।

मिच्छादिट्ठीपुण्यं फलइ कुदेवेसु कुणरतिएसु ।  
कुच्छिय भोग धरासु य कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥ (400)

मिथ्यादृष्टि पुरुष प्रायः कुत्सित पात्रों को दान देता है इसलिए वह पुरुष उस कुत्सित दान के फल से कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है, नीचे तिर्यचों में उत्पन्न होता है, और कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है।

सम्यदिट्ठी पुण्य ण होइ संसारकारणं णियमा ।  
मोक्खस्स होई हेऊ जइ वि णियाणं ण सो कुणइ । (404)

सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है।

उपरोक्त उद्धरण से सिद्ध होता है कि, सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव नहीं और पुण्यानुबन्धी पुण्य बिना परम्परा से मोक्ष नहीं इसलिए मोक्ष के लिए शुभ क्रियाओं के लिए शुभभावों के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने बंध प्रक्रिया का वर्णन पंचास्तिकाय में निम्न प्रकार से किया है—

जं सुहमसुहमुदिण्णां भावं रतो करेदि जदि अप्पा ।  
सो तेण हवदि बद्धो पोगलकम्पेण विविहेण ॥ (147) पृ. 344

यदि खल्वयमात्मा परोपाश्रयेणानादिरक्तः कर्मोदयप्रभावत्वादुदीर्ण शुभमशुभं वा भावं करोति तदा स आत्मा तेन निमित्तभूतेन भावेन पुद्गलकर्मणा विविधेन बद्धो भवति। वतदत्र मोहरागद्वेषस्मिग्धः शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः, तनिमित्तेन शुभाशुभकर्मत्वं परिणतानां जीवेन सहान्योन्यमूर्च्छनं पुद्गलानां द्रव्यबन्ध इति।

यदि वास्तव में यह आत्मा पर के आश्रय द्वारा अनादि काल से रक्त (विकारी) रहकर कर्मोदय के प्रभाव से उदित (प्रकट होने वाले) शुभ या अशुभ भाव को करता है तो वह आत्मा उस निमित्तभूत भाव द्वारा विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है। इसलिए यहां (ऐसा कहा है कि) मोह राग द्वेष द्वारा स्मिग्ध ऐसे जो जीव के शुभ या अशुभ परिणाम वह भावबन्ध हैं और उनके निमित्त से शुभाशुभ कर्मरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन रूप द्रव्यबन्ध है।

इस प्रकरण में जय ध्वल से निम्न में कुछ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

42. तं च कर्मं सहेतअं, अण्णहा णिव्वावाराणं पि बंधप्पसंगादो ।  
कर्मस्स कारणं किं मिच्छत्तासंजम-कषाय होंति, आहो सम्मत-संजम-विरायदाओ? ण ताव विदियपक्खो, जावदव्वाविणाभाषिणाणवद्वीए अविरुद्ध-भावेण जीवगुणतेण अवगयाणं सरूवविणासहेत्तविरोहादो । तदो

मिच्छत्तासंजम- कसाया कम्मकारणमिदि सिद्धं अणोसिं जीवगुणविरोहियाणं  
जीवेऽणुवलंभादो ।

(पु. 1 पृ. 54)

इस प्रकार जो मूर्त कर्म जीवद्रव्य से सम्बद्ध है उसे सहेतुक ही मानना चाहिए। यदि उसे सहेतुक न माना जाएगा तो जो जीव निर्वापार अर्थात् योगिक्रया से रहत हैं उनके भी कर्मबन्ध का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा। आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—कर्म के कारण क्या मिथ्यात्व, असंयम और कषाय हैं, या सम्यक्त्व, संयम और विरागता हैं? इन दो विकल्पों में से दूसरा पक्ष तो बन नहीं सकता हैं, क्योंकि सम्यक्त्व, संयम और विरागता आदिक का यावत् जीवद्रव्य के अविनाभावि ज्ञान की वृद्धि के साथ कोई विरोध नहीं है अर्थात् सम्यक्त्वादिक के होने पर ज्ञान की वृद्धि ही देखी जाती है अतः वे जीव के गुणरूप से अवगत हैं, इसलिए उन्हें आत्मा के स्वरूप के विनाश का कारण होने में विरोध आता है अर्थात् सम्यक्त्वादिक आत्मा के स्वरूप के विनाश के कारण नहीं हो सकते हैं। अतएव मिथ्यात्व, असंयम और कषाय कर्मों के कारण हैं यह सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मिथ्यात्वादि से अतिरिक्त जीवगुण के विरोधी और दूसरे धर्म जीव में नहीं पाये जाते हैं।

जे बंधयारा भावा, मोक्खयराचावि जे दु अज्ञापे ।  
जे चावि बंधमोक्खाण कारया ते वि विण्या । (7)

कहा भी है—

अध्यात्म में अर्थात् आत्मगत जो भावबन्ध के कारणभूत हैं और जो मोक्ष के कारणभूत हैं उन्हें जान लेना चाहिए। उसी प्रकार जो भाव बन्ध और मोक्ष इन दोनों के कारणभूत नहीं हैं उसे भी जान लेना चाहिए।

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।  
भावो दु पारिणमिओ करणोभय वज्जिओ होइ । (8)

औदयिक बन्ध के कारण भूत है। औपशामिक, क्षायिक और मिश्रभाव मोक्ष के कारण हैं। तथा पारिणमिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण नहीं हैं।

मिच्छत्ताविरदी वि य कसाय-जोगा य आसवा होति ।  
संजय-विराय-दंसण जोगाभावो य संवरओ । (9)

“मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारों आस्वरूप अर्थात् कर्मबन्ध के कारण हैं। तथा संयय, वैराग्य, दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन और दोग का अभाव ये संवररूप अर्थात् मोक्ष के कारण हैं।

यहां पर जो औदयिक भावों को बन्ध का हेतु कहा है सो उससे गति जाति आदि सभी औदयिक भावों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु जिन मिथ्यात्वादि औदयिक भावों के साथ बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है ऐसे मिथ्यात्वादि ही बन्ध के हेतु जानने चाहिए।

मिच्छत्तासवदारूंभ सम्पत्तिदिढकवाडेण ।  
हिंसादिदुवाराणि वि दिढ बयफलहेहि रूभंति । (10)

सम्यक्त्वरूपी दृढ़कपाट से मिथ्यात्व आस्वरूप द्वार रोका जाता है तथा व्रतरूपी दृढ़ फलकों से अर्थात् तख्तों से हिंसादिरूप द्वार भी रोके जाते हैं।

बन्धहेत्व भावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः ।

(त.वा.पृ.697 सू. 2)

बन्ध के कारणों का अभाव (संवर) और निर्जरा के द्वारा (पूर्व संचित) सम्पूर्ण कर्मों के नाश हो जाने को मोक्ष कहा है।

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभावः (1) मिथ्यादर्शनादीनां पूर्वाक्तानं- कर्मास्व हेतुनां निरोधे कारणाभावात् कार्याभाव इत्यभिनवकर्मादानाभावः ।

पूर्व (अष्टम अध्याय) में कथित मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बन्ध के कारणों का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना (आस्व) रुक जाता है। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है।

अध्याय ४

## कर्मबन्ध कारक मोह, राग, द्वेष का क्षय करो।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।  
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा(84) प्रसार

Various kinds of bandage become possible, when the soul develops delusion, attachment or aversion, therefore they are to be destroyed.

अथ दुःखेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीय  
इत्याघोषयति-मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स  
मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्मस्वरूपपरिणतिच्युतस्य बहिर्मुखजीवस्य  
जायदि विविहो बंधो शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तदबलेन जीवप्रादेश-  
कर्मप्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थंभूतद्रव्यभाव मोक्षाद्विलक्षणः सव-  
प्रकारोपादेयभूत स्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविध  
बन्धो जायते। तम्हा ते संखवइदव्वा यतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्यंभूतो  
बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धतात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहाः सम्यक् क्षपयितव्या  
इतितात्पर्यम्।

आगे आचार्य यह घोषणा करते हैं कि इन राग द्वेष मोह को जो संसार के  
दुखों के कारण रूप कर्मबन्ध के कारण हैं, निर्मूल करना चाहिए।

(मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स) मोह राग द्वेष से वर्तने  
वाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव के जो मोहादि—रहित परमात्मा के स्वरूप में  
परिणमन करने से दूर है (विविहोबंधो जायदि) नाना प्रकार कर्मों का बंध उत्पन्न  
होता है अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाला भाव—मोक्ष है, उस भाव  
मोक्ष के बल से जीव के प्रदेशों से कर्मों के प्रदेशों का बिल्कूल अलग हो जाना  
द्रव्यमोक्ष है, इस प्रकार द्रव्य, भाव मोक्ष से विलक्षण तथा सर्व तरह से ग्रहण  
करने योग्य स्वाभाविक सुख से विपरीत जो नरक आदि का दुःख उसको उदय  
में लाने वाला कर्म-बंध होता है (तम्हा ते संखवइदव्वा) इसलिए जब राग द्वेष  
मोह वर्तने वाले जीव के इस तरह कर्म बंध होता है, तब रागादि से रहित शुद्ध  
आत्म ध्यान बल से इन राग द्वेष मोह का भले प्रकार क्षय करना योग्य है, यह  
तात्पर्य है।

समीक्षा—इस गाथा में आचार्य देवने कर्मबन्ध के कारण एवं कर्म क्षय  
के कारणों को संक्षेप रूप में बताया है। आत्मा का स्वस्वरूप से च्युत होना,  
विपरीत परिणमन करना, परपरिणति करना ही बन्ध है और उससे विपरीत  
स्वस्वरूप में स्थिर रहना, वैभाविक भावों का त्याग करना मोक्ष है। बन्ध एवं  
मोक्ष का संक्षिप्त वर्णन आत्मानुशासन में गुण भद्र स्वामी ने निम्न प्रकार किया  
है—

कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं, त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।  
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः, ध्रुवं फलं प्राप्यसि तद्विलक्षणम्।

हे भव्य तूने बार-बार मिथ्याज्ञान एवं रागद्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से  
जन्म-मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों सम्यग्ज्ञान एवं  
वैराग्यजनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल  
अजर-अमरपद-को प्राप्त करेगा ऐसा निश्चय कर।

जैसे समुद्र में नौका रहते हुए भी नौका में पानी प्रवेश नहीं करता है,  
परन्तु जब नौका में छेद होता है तो समुद्र का पानी नौका में प्रवेश करता है वैसे  
ही संसार में जीव के रहते हुए कर्म आश्रव या बन्ध नहीं होता है। परन्तु जीव में  
जो मोह(मिथ्यात्व), राग, द्वेष, आदि द्वारा है उससे कर्म रूपी पानी का आश्रव होता

है तथा बन्ध होता है। परन्तु उन द्वारों को उसके विपरीत भावना अर्थात् आत्मभावना के द्वारा निरोध करने पर उन कर्मों का आना और बन्ध होना भी रुक जाता है। कुन्द कुन्द देव ने द्वादश अनुप्रेक्षा में कहा भी है—मिच्छतं अविरमणं, कसाय जोगा य आसवा होति ।(47)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योग (मन, वचन और काय) की प्रवृत्ति रूप परिणाम आस्त्रव (कर्मास्त्रव के कारण) होते हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी द्रव्यसंग्रह में आस्त्रव एवं बन्ध के कारण निम्न प्रकार से बताये हैं—

मिच्छताविरदि पमादजोगाकोहादओऽथ विणेया ।(30)

अब प्रथम जो भावास्त्रव है उसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रगाद, योग और क्रोधादि कषाय ऐसे पांच भेद जानना चाहिए।

कुन्द-कुन्द देव ने बारस अणुपेक्खा में कर्मास्त्रव को रोकने का उपाय सविस्तार वर्णन करते हुए निम्न प्रकार कहा—

चलमलिणमगाढ चिय, वज्जय सम्मतिदिङ्कवाडेण ।

मिच्छतासवदारणिरोहो हेदि ति जिणेहि णिदिदृँ ।(61) पृ.36

चल मलिन और अगाढ़ दोष को छोड़कर सम्यक्त्व रूपी सुदृढ़ किवाड़ो के द्वारा मिथ्यात्व रूपी आस्त्रव-द्वार का निरोध हो जाता है (आस्त्रव का द्वार बन्द हो जाता है), ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पंचमहव्ययमणसा, अविरमणिरोहणं हवे णियमा ।

कोहादि आसवाण, दाराणि कसायरहिद पलगेहि ।(62)

पांच महावतों से युक्त मन से अविरति रूप आस्त्रव का निषेध हो जाता है और क्रोधादि कषायरूप आस्त्रवों के द्वार कषाय के अभाव रूप फाटकों से बन्द हो जाते हैं।

सुहजोगस्स पवित्री, संवरण कुण्दि असुहजोगस्स ।

सुहजोगस्स णिरोहो, सुधुवजोगेण संभवदि ।(63)

शुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ योग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ योग का निरोध संभव होता है।

सुधुवजोगेण पुणो, धर्मं सुकंच च हेदि जीवस्स ।  
तम्हा संवरहेदूँ ज्ञाणो ति विचित्रेण णिच्चं ।(64)

पुनः शुद्धोपयोग के द्वारा जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होता है। इसलिए ध्यान संवर का कारण है, ऐसा सदा विचार करना चाहिए।

सा पुण दुविहा णेया, सकालपक्का तवेण क्यमाण ।  
चतुगदियाणं पढ़मा, वयजुत्ताणं हवे विदिया ।(67)

निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए—पहली स्वकाल-उदयकाल आने पर कर्मों का झङ्गना—पक्ना और दूसरी तप के द्वारा की जाने वाली (स्थिति पूर्ण होने से पहले ही तप के द्वारा कर्मों को झङ्गना) पहली निर्जरा चारों गतियों के जीवों के होती है और दूसरी निर्जरा वर्तों से युक्त जीवों (व्रती श्रावकों और मुनियों) के होती हैं।

श्रीमद् वट्करेचार्य ने साधु-आचार सहिता की प्राचीन कृति मूलाचार (आचार शास्त्र) में आश्रव एवं संवर का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारव कसाया ।

मण वयणकाय सहिदा दु आसवा होति कम्पस्स ।(730)

मूलाचार II पृ. 21

राग, द्रेष, मोह, इन्द्रियां, संज्ञायें, गौरव और कषाय तथा मन, वचन, काय ये कर्म के आश्रव होते हैं।

रंजेदि असुहकुणपे रागो दोसो वि दूसदो णिच्चं ।

मोहो वि महारिवु जं णियदं मोहेदि सभावं ।(731)

राग अशुभ-कुत्सित में अनुरक्त करता है। द्रेष भी नित्य ही अप्रीति कराता है। मोह भी महाशत्रु है जो कि निश्चित रूप से सत्पदार्थ में मूढ़ कर देता है।

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुधेज्जो ।

इन्द्रिय कसायसण्णा गारव रागादि आदीणि ।(740) पृ. 24

इन्द्रियां, कषाय, संज्ञा, गौरव, राग आदि ये कर्मास्त्रव के कारण हैं। इसलिए इन सबका निरोध करें।

रुध्देसु कसायेसु य मूलादो होति आसवा रुध्दा ।  
दुब्भत्तम्हि णिरुध्दे वणम्मि णावा ज ण एदि । (741)

कषायों के रुक जाने पर मूल से आस्व रुक जाते हैं जैसे वन में जल के रुक जाने पर नौका नहीं चलती है ।

इन्द्रिय कसायदोसा णिधिपर्णति तवणाणविणएहिं ।  
रज्जूहि णिधिपर्णति हु उप्पहगामी जहा तुरया । (742)

इन्द्रिय, कषाय और दोष ये तप, ज्ञान और विनय के द्वारा निग्रहीत होते हैं । जैसे कुपथ गामी धोड़े नियम से रस्सी से निग्रहीत किये जाते हैं ।

मणवयणकायगुत्तिदियस्स समिदीसु अप्रमत्तस्स ।  
आसवदार णिरोहे णवकम्मरयासवो ण हवे । (743)

मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश में करने वाले, समितियों में अप्रमादी साधु के आस्व का द्वारा रुक जाने से नवीन कर्मरज का आस्व नहीं होता ।

मिच्छत्ताविरदीहिं य कसायजोगेहिं जंच आसवदि ।  
दंसणविरमणणिगगह णिरोधणेहिं तु णासवदि । (744)

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनसे जो कर्म आते हैं वे दर्शन, विरति, निग्रह और निरोध से नहीं आते हैं ।

संवरफलं तु णिव्वाणमेति संवरसमाधिसंजुतो ।  
णिच्छुज्जुतो भावय संवर इण्मो विसुध्दप्पा । (745)

संवर का फल निर्वाण है, इसलिए संवर-समाधि से युक्त, नित्य ही उघमशील, विशुद्ध आत्मा मुनि इस संवर की भावना करें ।

संसार का मूल कारण आस्व और बन्ध है, एवं उसका मूल कारण मिथ्यात्व आदि भाव हैं । आचार्य उमास्वामि ने तत्वार्थसूत्र में बन्ध के कारणों का वर्णन करते हुए जो सूत्र कहा है उसकी टीका में आचार्य पूज्यपाद त्वामी ने भी बन्ध का वर्णन विशदरूप में निम्न प्रकार से किया है—

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योग बन्धहेतवः । (1)

अ.8 (स.सि.पृ.292)

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं । वा—त एते पञ्चबन्ध हेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति । तथ्युथा—मिथ्यादृष्टेः पंचापि समुदिता बन्ध हेतवो भवन्ति । सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्य संयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः । संयतासंयतस्याविरतिरितिमिश्रा प्रमाद कषाययोगाश्च । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगः । अप्रमत्तादीनां चतुर्णा योग-कषायौ । उपशान्तकषायक्षीणकषाय सयोगकेवलिनामेक एव योगः । अयोग-केवलिनो न बन्धहेतुः ।

इस प्रकार ये मिथ्यादर्शन आदि पांचो मिलकर या पृथक्-पृथक् बन्ध के हेतु हैं ।

स्पष्ट इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि जीव के पांचों ही मिलकर बन्ध के हेतु हैं । सासादन सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि के अविरति आदि चार बन्ध के हेतु हैं । संयतासंयत के विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं । प्रमत्तसंयत के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्ध के हेतु हैं । अप्रमत्तसंयत आदि चार के योग और कषाय ये दो बन्ध के हेतु हैं । उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, और सयोगकेवली इनके एक योग ही बन्ध का हेतु है । अयोगकेवली के बन्ध का हेतु नहीं है ।

बन्धस्यहेतवः पंच स्युर्मिथ्यात्वमसंयमम् ।

प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः । (2) तत्वार्थसार

अ. 5, श्लोक 2, पृ. 140

मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के पांच हेतु जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये हैं ।

संसारमूल हेतु मिच्छतं सव्वधा विवज्जेहि ।

बुद्धी गुणणिदं पि-हु मिच्छतं मोहिदं कुणदि । (723)

भगवती आ. भाग 1 पृ. 461

मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है उसका मनवचनकाय से त्याग करो, क्योंकि मिथ्यात्व, गुण युक्त (ज्ञान) बुधि को भी मूढ़ बना देता है ।

“संसारमूलहेतु” संसारस्य मूलकारणं । “मिच्छतं” अश्रधादानं । सव्वधा मनोवाककायैः । विवज्जेहि वर्जय । बुद्धि ‘बुद्धि’ । गुणणिदं पि-खु गुणान्वितामिप

मिथ्यना 'मोहिदं' मुग्धां। 'कुण्डि' करोति। अत्रेदं विचार्यते। कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य? न हीदं संभाव्यते असंयमादिभ्यो मिथ्यात्वं प्रथममुपजातमिति कुतः? यथा-मिथ्यात्वं स्वनिमित्सनिधानाद् भवति, एवमसंयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता? अथ तध्देतुरेव दर्शनमोहः प्रथमं भवति पश्चाच्चारित्रमोहादीनी त्येतदपि असत् सदा कर्माण्टकसद्भावात्। एवं प्रामाण्यते सूत्रकारः 'मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाययोगा बन्धहेतवः' इति वचने मिथ्यात्वं बन्धहेतुषु पूर्वमुपन्यस्तं बन्धपुरः सरश्च संसारः, संसारमूलहेतुर्मिथ्यात्वमिति बुद्धिं अर्थं याथात्परिच्छेदं गुणसमन्वितामपि मिथ्यात्वं विपरीतां करोति। अन्ये तु वदन्ति। 'बुद्धी गुणणिण्या पि खु' शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेगुणास्तध्देतुमपीति।

शंका—यहां विचारणीय यह है कि मिथ्यात्व को प्रथम स्थान क्यों दिया गया है? असंयमादि से मिथ्यात्व पहले उत्पन्न हुआ है यह सम्भावना भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे मिथ्यात्व अपने निमित्त के होने पर होता है।

वैसे ही असंयम आदि भी होते हैं तब वह प्रथम क्यों? यदि कहोगे कि उसका हेतु दर्शनमोह पहले होता है पीछे चारित्र मोह आदि होते हैं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आठों कर्म सदा रहते हैं?

समाधान—सूत्रकार ने तत्वार्थसूत्र में कहा है—मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग बन्ध के कारण हैं। यहां उन्होंने बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक संसार होता है अतः संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है। वह पदार्थ को यथार्थ रूप से जानने का गुण रखने वाली बुद्धि को भी विपरीत कर देता है।

अन्य आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं—सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, और धारण करना आदि बुद्धि के गुण हैं। ऐसी गुणयुक्त बुद्धि को भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है।

अग्निविसकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जणू।  
जं कुण्डि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छतं। (728) पृ. 463

आग, विष, काला सर्प आदि जीव का उतना दोष नहीं करते जैसा महादोष तीव्र मिथ्यात्व करता है।

मिच्छत सल्लविद्वा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति।  
विसलित्तकंडविद्वा जह पुरिसा णिष्णीयारा। (730)

मिथ्यात्व नामक शल्य से बीन्धे गये जीव तीव्र वेदना भोगते हैं। जैसे विषैले बाण से छेदे गये मनुष्यों का कोई प्रतीकार नहीं होता। अर्थात् वे अवश्य मर जाते हैं।

तह मिच्छतकदुग्गिदे जीवे तवणाण चरणविरियणि  
णासंति वंतमिच्छतमिय सफलाणि जायंति। (733)

मिथ्यात्व से दूषित जीव में तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य ये सब नष्ट हो जाते हैं क्योंकि सम्यकूरूप नहीं होते। समीचीन तप, ज्ञान चारित्र और वीर्य मुक्ति के उपाय हैं, केवल तप आदि मात्र मुक्ति के उपाय नहीं हैं और समीचीन तप आदि श्रद्धा के बल से ही होते हैं, श्रद्धा के अभाव में नहीं होते। अतः मिथ्यात्व को दूर कर देने वाले जीव में तप आदि सफल होते हैं। तप का फल सांसारिक सुख अथवा मोक्ष का सुख है। इस प्रकार मिथ्यात्व के वर्मन का कथन किया।

उपरोक्त समस्त वर्णन से सिद्ध होता है कि बन्ध प्रकरण में मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर नहीं है परन्तु संसार के लिए अन्य कारणों से भी अतिकर है। कुछ व्यक्ति, साधु, सन्त आचार्य भी वर्तमान में मिथ्यात्व को बन्ध प्रकरण में अकिञ्चित्कर मानते हैं। उनका ऐसा मानना, उनका मत, उनका सिद्धान्त उनका पक्ष ही अकिञ्चित्कर है न कि बन्ध के लिए मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है। समन्तभद्र स्वामीन ने देवागम स्तोत्र में तो यहां तक कहा कि—अज्ञानामोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद् वीतमोहतः। (98)

मोह सहित अज्ञानता से बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञानता से बन्ध नहीं होता है। इसलिए तो शिवभूति मुनि श्री ने जो कि "मास-मास" शब्दों को भी याद नहीं कर पाये जिसके कारण उसकी जगह "तुष्माषभिनं" रटते रहे एवं सम्यग्दर्शन सहित होने के कारण स्तोक ज्ञान से भी चरित्र के बल पर श्रेणी आरोहण करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। कुन्दकुन्द देव ने भावप्राभृत में कहा भी है—

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।  
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुड जाओ। (53)

भाव से विशुद्ध शिवभूति मुनि, तुषमाष शब्द का बार-बार उच्चारण करते हुए महाप्रभाव के धारक केवलज्ञानी हो गये, यह सर्व प्रकट है। इसलिए तो कुन्दकुन्द देव ने कहा है—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण। (दंसणपाहु) । गा. 3

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी भ्रष्ट कहे जाते हैं एवं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट प्राणी को निर्वाण नहीं प्राप्त होता। इसलिए तो कहा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साण। जिनेन्द्र भगवान ने शब्दों के लिए सम्यग्दर्शन मूलक धर्म का—

उपदेश दिया है। इसलिए समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

न सम्यक्त्वं समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।  
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनुभृताम्। (34) रशा.

प्राणियों के तीन कालों और तीन लोक में भी सम्यग्दर्शन के समान कल्याण रूप और मिथ्यादर्शन के समान अकल्याणरूप अन्य वस्तु नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद अनेक पाप प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है तथा विभिन्न दुर्गतियों को भी समाधृष्टि जीव प्राप्त नहीं करता है। सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान है वह सुज्ञान और चरित्र सुचारित्र होता है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन सहित जो ज्ञान है वह कुज्ञान तथा चारित्र कुचारित्र होता है। वतादि से रहित सम्यग्दृष्टि को भी जितने अंश में सम्यग्दर्शन है उतने अंश में बन्ध नहीं होता है

“येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।” (श्लो. 212) इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन से विपरीत जो मिथ्यात्व है, उससे बन्ध होता है क्योंकि मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन का प्रतिपक्षी भाव है। सम्यक्त्व से रहित मुनि से भी सम्यग्दृष्टि श्रावक अधिक धार्मिक है क्योंकि उसका आश्वर्व एवं बन्ध मिथ्यादृष्टि मुनि से कम होता है एवं निर्जरा अधिक होती है। समन्तभद्र स्वामी ने रलकरण्डक श्रावकाचार में कहा भी है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।  
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः। (33)  
रलकरण्डक श्रावकाचार पृ. 72

मोह मिथ्यात्व से रहित गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु मोह मिथ्यात्व से सहित मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा मोहरहित-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

‘निर्मोहो’ दर्शनप्रतिबन्धक मोहनीयकर्म रहितः सदर्शन परिणतः इत्यर्थः इत्थंभूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति। ‘अनगारो’ यतिः। पुनः ‘नैव’ मोक्षमार्गस्थो भवति। किं विशिष्टः? ‘मोहवान्’ दर्शनमोहोपेतः। मिथ्यात्व परिणत इत्यर्थः यत एवं ततो ‘गृही’ गृहस्थो। यो निर्मोहः स ‘श्रेयान्’ उत्कृष्टः। कस्मात्? मुनेः। कथंभूतात्? ‘मोहिनो’ दर्शनमोहयुक्तात्।

जो गृहस्थ सम्यग्दर्शन को घातने वाले मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण सम्यग्दर्शन रूप परिणत है वह तो मोक्ष मार्ग में स्थित है परन्तु जो दर्शन मोह से सहित होने के कारण मिथ्यात्व रूप परिणत हो रहा है ऐसा मुनि भी मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। इस तरह मोह से रहित गृहस्थ भी मोह से युक्त मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

निर्जरा मुख्यतः दो प्रकार की होती है (1) सविपाक या अकाम निर्जरा (2) अविपाक या सकाम निर्जरा। मिथ्यादृष्टि की जो निर्जरा स्थिति पूर्ण होने के बाद होती है उसे “सविपाक निर्जरा” कहते हैं। मिथ्यादृष्टि की बालतपस्या से जो निर्जरा होती है उसे “अकाम निर्जरा” कहते हैं क्योंकि मिथ्यादृष्टि की निर्जरा बाद पुनः कर्म का बन्ध होता है और वह निर्जरा मोक्ष के लिए कारण नहीं है संवर पूर्वक वह निर्जरा नहीं है। सम्यग्दर्शन होने पर जो निर्जरा प्रारम्भ होती है वही यथार्थ निर्जरा है क्योंकि इस निर्जरा से परम्परा से मोक्ष मिलता है। इसलिए तत्वार्थसूत्र में, गोम्मटसार में सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्व उन्मुख सातिशय मिथ्यादृष्टि को निर्जरा स्थान में ग्रहण किया है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्तवियोजकदर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपकक्षीणमोहजिना: क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। (45) त. सू. अ. 9

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिविसंयोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं।

सम्मतुप्तीए-सावयविरदे अणंत कम्पंसे ।  
 दंसणमोहकखबगे कषाय उवसामगे य उवसते । (66)  
 खबगे य खीणमोहे-जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा ।  
 तव्विवरीया काला संखेजगुणकम्मा होति । (67)

गोमट्टसार जीवकाण्ड भाग-1 पृ.49

सम्यक्त्वोत्तति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्म का विसंयोजन करने दर्शन मोहनीय कर्मक्षय करने वाला कषायों का उपशम करने वाले 8-9-10 वे गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीण मोह, सयोग केवली और अयोग केवली दोनों प्रकार के जिन ग्यारह स्थानों में द्रव्य की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी-असंख्यात गुणी अधिक-अधिक होती जाती है और उसका काल इसके विपरीत है अर्थात् क्रम से उत्तरोत्तर संख्यातगुणा हीन है ।

उपर्युक्त सविस्तृत प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि संसार के लिए या आन्नव, बन्ध के लिए मिथ्यात्व की भूमिका अन्य कषाय आदि से अधिक रहती है एवं संसार विच्छेद के लिए सम्यक्त्व की भूमिका सबसे अधिक रहती है । क्रोध-मान-माया-लोभ की प्रथम चौकड़ी का नाम अनन्तानुबन्धी इसलिए हुआ कि संसार का अर्थ मिथ्यात्व है, उसके अनुबन्धक (साथ रहने वाले) जो क्रोध, मान, माया, लोभ हैं वह अनन्तानुबन्धी है । वस्तुतः अनंत का अर्थ मिथ्यात्व है न कि क्रोध, मान, माया, लोभ । क्योंकि जो भव्य एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है उसका अनन्त संसार क्षय हो जाता है । उसका केवल संसार अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल रह जाता है । जघन्य से तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद कुछ भव्य तो अन्त अन्तर्मुहूर्त में भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, कुछ तद्भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । कुछ संख्यात, असंख्यात भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं । अर्द्धपुद्गल परिवर्तन भी सामान्य ज्ञान की अपेक्षा अनंत होते हुए भी अनंत नहीं है क्योंकि इसका क्षय अनिवार्य है और इसको केवली भगवान अनंत रूप में नहीं जानते हैं अर्थात् यह केवल ज्ञान की अपेक्षा अनंत नहीं है । अर्द्धपुद्गल परिवर्तन तो पंच परिवर्तन में जो सबवे छोटा पुद्गल परिवर्तन है उसका भी आधा है ।

जो मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर मानते हैं वे द्रव्यसंग्रह की इस गाथा को “जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होति ।” उद्धृत करके कहते हैं कि योग से प्रकृति प्रदेश बन्ध होता है और केवल कषाय से स्थिति, अनुभाग बन्ध होता है । परन्तु उनके लिए मैं आचार्यों का सिद्धान्त प्रस्तुत करके फिर निरसन कर रहा हूं । यथा—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादते स बन्धः (2)

जीव सकषाय होने से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है ।

अतस्तदुपश्लेषो बन्धः (8) अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादर्दीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषातेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभाव योग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इति आख्यायते । सर्वार्थ सिद्धि पृ. 294

उन पुद्गलवर्गणओं का आत्मा के साथ उपश्लेष (एक क्षेत्रावगाही) हो जाना ही बन्ध है । इसलिए मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आद्रीभूत आत्मा में चारों और से योग विशेष के कारण सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तप्रदेशी कर्म योग्य पुद्गलों के अविभावात्मक उपश्लेष को बन्ध कहते हैं ।

उपरोक्त उधरण से यह सिद्ध हो जाता है कि केवल क्रोध-मान-माया-लोभ (कषायों) बन्ध के लिए कारण नहीं हैं उससे भी अधिक मिथ्यात्व अधिक स्थिति, अनुभाग बन्ध के लिये कारण है ।

जो आत्मा को कसे, कष्ट दे, क्षीण करे, कषायला भाव (कर्मबन्ध के लिए संश्लेषित भाव) है उसे कषाय कहते हैं इसलिए संग्रह नयसे समस्त वैभाविक भाव को भी कषाय कह सकते हैं । जब विशेष रूप से भेद नय करते हैं—तब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि रूप में विभक्त किया जा सकता है । अथवा स्थिति अनुभाग बन्ध के लिए कषाय विशेषण अन्त दीपक है, अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद से तो स्थिति-अनुभाग बन्ध होता ही हैं परन्तु यह बन्ध जब तक क्षीण कषाय रहती है तब तक भी होता है । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय से रहित अवस्था में एवं योग सहित अवस्था में जो बन्ध होता है वह बन्ध, स्थिति एवं अनुभाग से रहित केवल प्रकृति एवं प्रदेश बन्ध होता है । जैसे छठे गुणस्थान को प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं किन्तु केवल छठा गुणस्थान ही प्रमत्त सहित नहीं है, छठा से अधिक पंचम, पंचम से अधिक चतुर्थ, और चतुर्थ से अधिक तृतीय एवं तृतीय से अधिक द्वितीय तथा द्वितीय से अधिक प्रथम

गुणस्थान में उत्तरोत्तर अधिक प्रमाद होता है तथापि अन्तदीपक व्याय से षष्ठम् गुणस्थान को प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं

अतएव (1) मोह (मिथ्यात्व) (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय (5) योग से जो कर्मबन्ध होता है उसमें से मिथ्यात्व में सबसे अधिक उसके अनन्तर अविरति उसके अनन्तर प्रमाद उसके अनन्तर कषाय एवं उसके अनन्तर योग से कर्म बन्ध होता है। अस्तु मिथ्यात्व का बन्ध में प्रथम स्थान है। अविरति का दूसरा, प्रमाद का तीसरा, कषाय का चौथा और योग का पांचवा स्थान है। इसलिए जब तक मिथ्यात्व का उदय रहता है अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है तब तक मोक्ष मार्ग ही प्रारम्भ नहीं होता एवं मोक्ष योग्य सवं और निर्जरा भी नहीं होती है। इसलिए इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देवे ने कहा है—मोह-राग-द्वेष से कर्म बन्ध होता है इसलिए इन्हें तुम क्षय करो अर्थात् सम्यग्दर्शन के बल पर मिथ्यात्व का नाश करो, वीतराग से राग को क्षय करो, और वीतद्वेषता से द्वेष का अन्त करो। यह है संक्षिप्त से बन्ध एवं मोक्ष की प्रक्रिया।

पुण्यबन्ध, पापबन्ध एवं मोक्ष प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य के शब्द में निम्न में कर रहा हूँ—

मिच्छत तह कसायऽसंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं ।

बंधइ असुहं कम्पं जिणवयणपरम्पुहो जीवो ।

(अष्टपाहुड पृ. 498, गा. 115)

जिनवचन से पराद्‌मुख जीव, मिथ्यात्व कषाय, असंयम, योग और अशुभ लेश्या के द्वारा अशुभ कर्म का बन्ध करता है।

तव्विहवरीओ बंधइ सुहकम्पं भावशुद्धमावण्णो ।

दुविहपयार बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं । (116)

मिथ्यादृष्टि से विपरीत अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव भावों की शुद्धि को प्राप्त होग हुआ शुभ कर्म का बंध करता है। इस प्रकार यह जीव शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों को बांधता है यह संक्षेप से ही कहा है।

णाणावरणादीहिं य अट्हकम्पेहिं वेदिओ य अहं ।

डहिऊण इण्ह पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां । (117)

सम्यग्ज्ञानी मुनि विचार करता है कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्टित हो रहा हूँ सो अब इन्हें भस्मकर अनन्त अनादि गुणरूप चेतना को प्रकट करता हूँ।

जह वीयम्मि य दड्हे ण वि रोहइ अंकुरो य महि वीढे ।

तह कम्पवीयदड्हे भवंकुरो भावसवणाणं । (124 पृ. 516)

जिस प्रकार बीज के जलजाने पर पृथिवी पर नया अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने पर भाव मुनि के संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है।

अन्तमंगल—

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव

सुतमिव जननी मां शुध्दशीला भुनक्तु ।

कुलमिव गुणभूषां कन्यका संपुनीता-

ज्जिनपतिपदप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः । (स्वामी समन्तभद्र)

जिस प्रकार सुखकी भूमि स्त्री कामी पुरुष को सुखी करती है उसी प्रकार सुख की भूमि तथा जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की अवलोकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे सुखी करे। जिस प्रकार शुद्ध शील व्रत से युक्त माता पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार निरतिचार शीलव्रतों से युक्त सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे और जिस प्रकार गुणरूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुल को 'पवित्र' करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से सुशोभित सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे पवित्र करे। ज्ञान जल को पीकर, ज्ञान जल को सुनकर और ज्ञान जल में डूबकर भव्यजीव शिव-परममंलभूत- सिद्ध होते हैं इस प्रकार भगवान् कुन्दकुन्द आचार्य ने सम्यग्ज्ञान का महात्म्य प्रकट करते हुये कहा है—

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।

वाहिजरमरणवेयण डाहविमुक्ता सिवा होंति ॥ (भाप्र.गा. 123)

जैनं जयतु शासनम् !

सत्यमेव जयते !

## कनक नन्दी “गुरुवर के साहित्य का परिचय”

कनक नन्दी को ध्याना, साहित्य इनका पढ़ना ।  
श्रावक याद रखोगे तो ज्ञान पाओगे ॥  
“धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका”  
आरंभ में दिखाती है हमको दिशा,  
“संस्कार” को पढ़ना सुसंस्कृत भी बनना ।  
श्रावक याद रखोगे——— ।

“व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण”  
जो सदाचार मय बना देता है जीवन  
“धर्म स्वास्थ” को पढ़ना और स्वस्थ तुम बनना ।

श्रावक याद——— ।  
जब “धर्म विज्ञान बिन्दु” पढ़ोगे,  
विज्ञान मय धर्म से तभी जुड़ोगे,  
“भाग्य पुरुषार्थ” पढ़ना न पीछे तुम हटना,  
श्रावक याद——— ।

“जिनार्चना” से अर्चा यदि करोगे,  
“पुण्य-पा पाप” से तभी बचोगे,  
इसकी मीमांसा पढ़ना, पूजन भी करना ।  
श्रावक याद——— ।

“भगवान महावीर और उनका संदेश”,  
“क्षमा वीरस्य भूषणं” का उपदेश  
“विनय मोक्ष” का पाना न भूल तुम जाना ।  
श्रावक याद ————— ॥

“ऋषभ पुत्र भरत से भारत” बना,  
युग का निर्माण ऋषभ देव ने किया,

“विश्व इतिहास” पढ़ना ‘रहस्य’ भी समझना ।  
श्रावक याद——— ।  
“क्रांति के अग्रदूत” बनकर चलो,  
“विश्वशांति के अमोघ उपाय” करो,  
“मंत्र विज्ञान” समझना, दुःखों से बचना ।  
श्रावक याद——— ।

“त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य” से ब्रह्म तुम बनो,  
“आत्म उत्थान के तप” को करो,  
“अनेकान्त दर्शन” का पढ़ना अनेकान्त मय बनना ।  
श्रावक याद——— ।  
“स्वप्न विज्ञान” में स्वप्न तुम पढ़ो,  
“शकुन विज्ञान” से शकुन भी समझो,  
“बहतर कलाओं” को पढ़ना और पूर्ण तुम बनना ।  
श्रावक ————— ।

“कर्म का दार्शनिक वैज्ञानिक विवेचन”  
जो सिखाता है तोड़ना कर्मों के बन्धन,  
“अहिंसामृत का पीना” हिंसा न करना ।  
श्रावक याद——— ।  
“स्वतंत्रता के सूत्र” स्वतंत्र विवेचन,  
जिससे मिलता है हमें ज्ञान का मक्खन,  
“लेश्या विज्ञान” का पढ़ना मन निर्मल तुम करना ।  
श्रावक याद——— ।

“कथाओं के संग्रह” की पुस्तक है भिन्न,  
जो बच्चों के मन को बनाती प्रसन्न,  
“आहारदान का देना अश्युदय” का पाना ।  
श्रावक याद——— ।  
सत्याश्वत पाने की “सत्यधर्म” की रचना,  
“अतिमानवीय शक्ति” से शक्ति तुम पाना,  
“संगठन” को पढ़ना और एकता तुम लाना ।  
श्रावक याद——— ।

“दिग्म्बर साधु का नगनत्व” गुरुवर ने है लिखा,  
“विश्व विज्ञान” में है विश्व की चर्चा,  
“भ्रष्टाचार का उन्मूलन” करता पापों का खण्डन ।  
श्रावक याद—— ।

“मनन एवं प्रवचन” को तुम पढ़ो,  
“तत्त्वानुचित्तन” से चिन्तन बनाओ,  
“निमित्त उपादान” पढ़ना सिध्धांत समझना ।  
श्रावक याद—— ।

“धार्मिक कुरुतियों का खण्डन” पढ़ो,  
सामाजिक कुरुतियां तोड़ते चलो,  
“दंसण मूलो धर्मो” को पढ़ना मिथ्यात्व से बचना ।  
श्रावक याद—— ।

1993 तक 5 भाषाओं में अनेक संस्करण में छपे उ. कनक नन्दी के शोधपूर्ण प्रायः 51 ग्रन्थों का परिचय इस कविता में है ।

आर्थिका-क्षमा श्री

1. रुसउ तूसउ लोओ सच्चं अक्खंतयस्स साहुस्स  $5\frac{1}{2}$  (दर्शनसार)  
सत्य कहने वाले साधु से चाहे कोई रुष हो और चाहे सनुष्ट हो उसे इसकी परवा नहीं ।
2. पत्थं हिदयाणिङ्दुं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।  
कडुंग व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥ भगवती (359)  
अपने गण के वासी साधुकों हितकारी किन्तु हृदय को अनिष्ट भी लगने वाले वचन बोलना चाहिए, क्योंकि वे वचन कडुवी औषधी की तरह उसके लिये मधुर फलदायक होते हैं ।

“मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर नहीं अतिकर”

रचनाकार—मुनि गुप्ति नन्दी  
कर्मन् बन्ध छुड़ाने में रत्नत्रय हेतु महान है ।  
जग भ्रमण का मूल हेतु दर्शन मोह प्रधान है ॥  
कैसे कुछ दिग्भासित जनों ने अकिञ्चित्कर है इसे कहा ।  
पचंपरावर्तन में कारण मिथ्यात्व अतिकर है रहा ।  
संयम भ्रष्टों से भी बड़ा यह दर्शन भ्रष्ट प्रधान है—जग——(1)  
“संसार मूल हेतू मिच्छत्” शिवकोटि आचार्य कहे ।  
“मिथ्यात्वादि बन्ध हेतवः” उमास्वामी आचार्य कहे  
कषाय अनन्तानुबन्धी होने का एक स्थान ये—जग——(2)  
सत्तर कोडाकोडी सागर बन्ध करे मिथ्यात्वी ही  
और पाप अनुबन्धी तीव्र बन्ध करे मिथ्यात्वी ही  
कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बान्धे मोही अज्ञानी है—जग——(3)  
उपाध्याय श्री ने इस पर एक पुस्तक की रचना कर दी  
“दंसण मूलो धर्मो” शब्द पर सत्य रचना ही कर दी  
'गुप्ति' चाहे इससे विज्ञजन जाने सत्य महान है - जग——(4)  
दोहा—जिनमत न निजमत करो बढ़े अनंत संसार ।  
ज्ञानाभिमान तज सत गहो कहें कनक नन्दी गुरुसार ॥

(आ. क्षमा श्री)

# “अभीक्षण - ज्ञानोपयोगी, सिद्धांत चक्रवर्ती, उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी द्वारा रचित ग्रन्थ”

आपको जानकर हर्ष होगा कि, जैन धर्म की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता एवं तत्त्वज्ञता से सभी वर्गों के परिचय हेतु ‘धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन’ कार्यरत है। वर्तमान वैज्ञानिक युग की पीढ़ी बुद्धिजीवी वर्ग एवं जैन-जैनेतर बन्धुओं की मानसिकता को दृष्टिगत कर रखी गई सभी पुस्तकें आपको स्वयं अपने अन्तर्मन में उमड़ते प्रश्नों का ही उत्तर प्रतीत होगी।

उपाध्याय कनकनंदी जी की लेखनी से भूगोल, विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, जीव-विज्ञान, राजनीति, रसायन-विज्ञान, खगोल, यंत्र, मंत्र, तंत्र, आयुर्वेद, मनोविज्ञान, ऋद्धि, सिद्धि, स्वप्न-विज्ञान, ध्यान-योग, इतिहासादि सभी को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया गया है।

विषय	मूल्य
1. धर्म विज्ञान बिन्दु	15.00
2. धर्म ज्ञान एवं विज्ञान	15.00
3. भाग्य एवं पुरुषार्थ	10.00
4. Fate and Efforts	15.00
5. व्यसन का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण	20.00
6. Nakedness of Digamber Jain Saints and Kesh Lonch	5.00
7. पुण्य - पाप मीमांसा	15.00
8. जिनार्चना पुष्ट I एवं II प्रतिभाग	21.00
9. धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान पुष्ट I एवं II प्रतिभाग	20.00
10. निमित्त उपादान मीमांसा	7.00
11. धर्म दर्शन एवं विज्ञान	21.00
12. क्रांति के अग्रदृत	10.00

13. लेश्या - मनोविज्ञान	6.00
14. ऋषभ पुत्र भरत से भारत	10.00
15. ध्यान का एक वैज्ञानिक विश्लेषण	15.00
16. अनेकान्त दर्शन	20.00
17. कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन	25.00
18. युग-निर्माता ऋषभदेव	15.00
19. विश्व शान्ति के अमोघ उपाय	10.00
20. अहिंसामृतम्	7.00
21. मनन एवं प्रवचन	5.00
22. विनय मोक्षद्वारा	5.00
23. क्षमा वीरस्य भूषणं	15.00
24. संगठन के सूत्र	10.00
25. अतिमानवीय शक्ति	21.00
26. मंत्र विज्ञान	10.00
27. Philosophy of Scientific Religion	15.00
28. दिगम्बर जैन साधु का नग्नत्व एवं केशलोंच (हिन्दी, मराठी, व गुजराती) प्रति पुस्तक	5.00
29. भगवान् महावीर और उनका दिव्य-संदेश	5.00
30. धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्ट I	15.00
31. संस्कार (हिन्दी)	5.00
32. विश्व विज्ञान रहस्य	100.00
33. Religious and scientific analysis of vyasan	20.00
34. स्वप्न विज्ञान	30.00
35. त्रैलोक्यपूज्य ब्रह्मचर्य	12.00
36. आत्मोत्थानोपायः तप	9.00

37.	तत्त्वानुचिन्तन	15.00
38.	विश्व - इतिहास	25.00
39.	शकुन - विज्ञान	30.00
40.	संस्कार (सचित्र)	7.00
41.	कथा सुमन मालिका	15.00
42.	72 कलायें	5.00
43.	हिंसामय यज्ञ का प्रारम्भ क्यों	7.00
44.	कथा - सौरभ	21.00
45.	कथा - पारिजात	15.00
46.	धर्म प्रवर्तक चौबीसों तीर्थकर	5.00
47.	जीने की कला	7.00
48.	संस्कार (बृहत्)	30.00
49.	स्वतंत्रता के सूत्र	71.00
50.	कथा - पुष्पांजलि	15.00
51.	धार्मिक कुरुतियों का परिशोधन	7.00
52.	सत्य धर्म	5.00
53.	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प II	10.00
54.	उ० कनकनन्दी की दृष्टि में शिक्षा	11.00
55.	अयोध्या का पौराणिक ऐतिहासिक एवं राजनैतिक विश्लेषण	11.00
56.	गुरु अर्चना	3.00
57.	The maker of the age, rishab Deva	25.00
58.	दंसणमूलौ धर्मो तत्त्व संसारमूलहेदु मिच्छत्त	15.00
59.	धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प III	10.00
60.	संस्कार (अंग्रेजी)	5.00

